प्रथमावृति कन्नड	२०००
प्रथमावृति मराठी	६०००
प्रथमावृति हिन्दी	६०००
योग	१४०००

न्योछावर - छह रुपये

प्राप्ति स्थान :—

१. श्री दिगम्बर जैन ट्रस्ट
१४१, आरटी स्ट्रीट, बैंगलोर (कर्नाटक)
पिन ५६० ०५३

२. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान)
पिन ३०२ ०१५

प्रकाशकीय

श्री दिगबर जैन ट्रस्ट, बेगलोर यह सस्था कर्नाटक प्रात मे जैन साहित्य के क्षेत्र मे १९८२ से कार्यरत है। इस सस्था का मूल उद्देश्य आचार्य श्री कुदकुददेव के सभी शास्त्र कन्नड़ भाषा मे छपाने का रहा। इस उद्देश्य मे यह सस्था शत प्रतिशत सफल सिद्ध हुई है, यह जानकारी देते हुए हमे विशेष आनद होता है। इस सस्था ने समयसार, पचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड ग्रथों को सर्वोत्तम छपाई, उत्कृष्ट कागज और मजबूत बायडिग के साथ वाचकों के कर कमलों मे पहुचाया है।

छहढाला ग्रथ के कन्नड़ पद्यानुवाद तथा कन्नड टीका के साथ चार सस्करण छप चुके। केवल पद्यानुवाद भी अलग रीति से छापा है। उसकी कैसेट भी तैयार की है। समयसार आदि का भी कन्नड पद्यानुवाद की कैसेट बनाने की योजना है। डॉ योगेश जैन द्वारा सकलित/सपादित कुदकुद सुक्तिसुधा का कन्नड सस्करण और भव्यामृतके सस्करण निकल चुके।

इन ग्रथों को छोड़कर पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामीजी के भक्तामर (तीन सस्करण) और समाधिशतक प्रवचन भी समाज मे बहुत प्रिय रहे।

कुदकुद शतक, शुद्धात्मशतक, क्रमबद्ध पर्याय, आप कुछ भी कहो, इत्यादि डॉ हुकुमचद भारिल्लजी लिखित साहित्य भी कन्नड अनुवाद के साथ छपाया है।

आचार्य कुदकुद द्विसहस्राब्दि निमित्त हमने आचार्य कुदकुददेव मराठी मे छापकर मराठी भाषा भाषी लोगों की सेवा भी प्रारम्भ किया है।

पूज्य श्री गुरुदेव कानजी स्वामीजी के जन्मशताब्दि निमित्त आचार्य कुदकुददेव हिंदी भाषा मे छापकर हमने हिदी लोगों की सेवा चालू की है। भविष्य मे यथासभव हिदी भाषा मे ग्रथ प्रकाशन करने का क्रम अखड रखने का भाव है। प्रस्तुत "आचार्य कुदकुददेव" हिंदी भाषा मे हमारा यह प्रथम प्रकाशन छप रहा है।

कन्नड भाषा मे अल्पावधि मे इतना प्रकाशन कार्य करना हमारे विद्वान श्री एम. बी पाटील (शेडबाल) के निस्पृह और अखंड सेवा का ही सुमधुर फल है। उनके सेवा से हम विशेष प्रभावित हैं। उनके हम हृदय से चिर ऋणी हैं, कृतज्ञ है। वर्तमान मे आप परमात्मप्रकाश ग्रथ का कन्नड भाषा मे अनुवाद कर रहे हैं। आपका सेवायोग आजीवन संस्था को मिलता ही रहेगा ऐसा हमे पूर्ण विश्वास है।

मराठी तथा हिदी भाषा के प्रकाशन विभाग मे ब्र यशपालजी जैन एम ए जयपुर के योगदान के सस्मरण किये बिना हमसे रहा नहीं जाता। भविष्य मे इनकी सेवा हमे अपेक्षित है। नवोदित युवा विद्वान श्री नरतेश पाटील, जैन दर्शन शास्त्री एम ए से हम विशेष कार्य की अपेक्षा रखते हैं। इस कार्य के लिए उन्हे हार्दिक बधाई हैं तथा इस कृति के शुद्ध मुद्रण हेतु प्रूफरीडिग एवं प्रेस आदि की व्यवस्था में डॉ. योगेश जैन, अलीगज का विशेष सहयोग मिला है, एतदर्थ उनके हृदय से आभारी हैं तथा वे धन्यवाद के पात्र हैं।

अध्यक्ष
सी. बी. भडारी
श्री दिगंबर जैन ट्रस्ट
१४१ आर. टी स्ट्रीट
बेगलोर (कर्नाटक)
पिन -५६००५३

लेखक का मनोगत

अज्ञानी जीव अनादि काल से पर्यायमूढ रहा है। अतः उसे आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही हुआ। अज्ञान ही दुःखावस्था का/संसारावस्था का मूल कारण है। निज शुद्धात्मा का ज्ञान नही होने से मोह, राग, द्वेष होते है। इसलिए निज शुद्धात्मा का निर्मल, स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करके मोहादि परिणामो का त्याग करना ही सुखदायक मोक्षमार्ग का शुभारम्भ है।

समयसारादि अध्यात्म ग्रथो के अध्ययन से जीव के शुद्ध स्वभाव का ज्ञान होना सहज तथा सुलभ है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अथवा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ शुद्धात्मा के ज्ञान-श्रद्धान के बिना शक्य नही, यह त्रिकालाबाधित सत्य हम सभी को स्वीकार करना आवश्यक है।

अध्यात्म शब्द ही शुद्धात्मा की मुख्यता रखता है और अन्य सभी का निषेध करता है। निज शुद्धात्मा का आश्रय/अनुभव करने से ही वर्तमानकालीन दुःखमय-अशुद्ध पर्याय भी सुखमय-शुद्धरूप बन जाती है, इसे ही मोक्ष कहते है। निज शुद्धात्मा को छोडकर अन्य अप्रयोजनभूत पदार्थों की जब तक श्रद्धा रहेगी तब तक धर्म-मार्ग की प्राप्ति सभव नही है। इसलिए ही व्यवहार को (व्यवहारनय से प्रतिपादित विषय को) अभूतार्थ और निश्चय को (निश्चय से प्रतिपादित विषय को) भूतार्थ कहा है।

आचार्य कुदकुददेव

जैन दर्शन एक द्रव्य मे अन्य द्रव्य का अस्तित्व स्वीकारता नही है अर्थात् परस्पर दो द्रव्यो मे अत्यत अभाव स्वीकारता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि अनतानत जड-चेतन द्रव्यो की स्वतत्रता मानता है। पुदगल का पुदगल के साथ और जीव का पुदगल के साथ परस्पर बध होता है तो भी अनंतानत द्रव्यों की स्वतत्रता मे बाधा नही आती। एक द्रव्य का अन्य द्रव्य मे प्रवेश नही होता, यही द्रव्य की वास्तविकता है और यही जिनवाणी की मौलिकता है। इस मर्म को जानकर निश्चयनय के विषय को मुख्य करके मोक्षमार्ग पर आरूढ होना चाहिए, यह जिनागम का उपदेश है।

पराश्रित जीवनक्रम अनादि काल से चलता आया है। पराश्रय से अर्थात् निश्चय निरपेक्ष व्यवहारनय कथित विषय के अवलबन से जीवन मे वास्तविक धर्म-मोक्षमार्ग-बीतरागता प्रगट होना शक्य नहीं है। इस प्रकार जिनधर्म का मर्म आचार्य कुदकुद देव ने अपने अनेक ग्रथों मे स्पष्ट किया है। आचार्य की लोककल्याणकारी करुणाबुद्धि के फलस्वरूप प्राप्त पचास्तिकाय, अष्ट पाहुड, प्रवचनसार, समयसार और नियमसार ग्रथो का क्रम से अध्ययन करने पर आचार्यदेव का वॅास्तविक चरित्र हमारे मनः चक्षु के सामने स्पष्ट होता है। आचार्य की आत्मशुद्धि क्रमशः बढती गयी। वास्तविक देखा जाय तो आचार्य रचित प्रत्येक गाथा का प्रत्येक शब्द उनका महांन चरित्र हमे समझाता है। ऐसी स्थिति मे उनके स्वनत्र जीवन चरित्र की आवश्यकता ही क्यां है ? तथापि-

अज्ञानी अनादि काल से अज्ञान के कारण बहिर्मुख दृष्टि से ही निरीक्षण करता रहता है । अतः महापुरुषो का जीवन चरित्र भी बाह्य घटनाओं के आधार से ही जानना चाहता है । इस प्रवृत्ति से वास्तविक जीवन का स्वरूप समझ मे नही आता और शाश्वत सुख का प्रयोजन भी सधता नही है । इसलिए महापुरुषो का जीवन चरित्र अतर्मुख दृष्टि से ही देखना चाहिए । अतर्मुख दृष्टि से उनका सत्य स्वरूप ख्याल मे आता है और महापुरुषो के जीवन का वास्तविक लाभ भी मिलता है । इस ही एक विचार से आचार्य कुदकुददेव का जीवन चरित्र लिखने का प्रयास किया है ।

इस चरित्र मे आचार्य का विशिष्ट बचपन, उत्तरोत्तर वृद्धिगत आत्मसाधना और उसकी महिमा, उनका प्रगाढ गार्भीय लोकोपकारी साहित्य रचना, विदेह क्षेत्री गमन आदि विषयों को अपनी अल्पबुद्धि से कथन किया है । आचार्यों के माता-पिता जी के नाम और बचपन की घटनाओं को इतिहास की कसौटी पर न कसे इतना वाचकों से मेरा नम्र निवेदन है ।

यह कृति किसको कितनी रुचेगी यह लिखना अप्रासगिक होगा। तथापि सुपक्व बुद्धिधारकों को अध्यात्म प्रणेता की महिमा और अध्यात्म ग्रर्थों के अध्ययन की प्रेरणा की मुख्यता से यह मेरा प्रयास अच्छा लगेगा ऐसा मेरा अनुमान है । इस ही आशा से कन्नड भाषा भाषियो के करकमल मे यह कृति अर्पण करता हूँ । मेरे अल्प अध्ययन के कारण इस किताब मे अनेक कमियाँ रह सकती है । वाचको को कमियाँ ख्याल मे आयेगी । उनसे मेरा नम्र निवेदन है कि मुझे त्रुटियों

का उपाय के साथ ज्ञान करावे ताकि मै अगले सस्करण मे सुधार कर सकूं। आपकी सूचनाओं का मै हार्दिक स्वागत करता हूँ। यह कृति आचार्य के जीवन को समझने के लिए और उनके लोकोत्तर ग्रंथो के अध्ययन के प्रेरक सिद्ध हो जाय तो मै अपने इस प्रयास को सफल समझूँगा।

दि. २२/४/१९८३

श्री एम. बी. पाटील, शुद्धात्मसदन
हुलबत्ते, कॉवनी, शहापुर
बेलगांव (कर्नाटक)
पिन-५९०००३

अनुवादकीय

श्री एम. बी. पाटील (शेडबाल) लिखित आचार्य कुदकुददेव का चरित्र हिदी भाषा मे छपाना चाहिए यह भावना १९८३ से ही थी। लेकिन अनेकानेक कारणो से यह कार्य नही हो पाया । आचार्य कुदकुद द्विसहस्राब्दि निमित यह चरित्र मराठी भाषा मे आया । वाचको की प्रतिक्रिया अनुरूप रही और अनेक वाचकों ने हिदी मे छपाना चाहिए ऐसा भाव व्यक्त किया । अतः अब पू श्री गुरुदेव कानजी स्वामीजी के जन्मशताब्दी निमित यह भावना सफल हो रही है ।

ऐतिहासिकता- आचार्य कुदकुद के सबध मे प्राचीन ग्रथो मे प्राप्त महत्वपूर्ण उद्धरण तो लेखक ने दिया ही है । साथ ही आचार्य की जन्मभूमि, तपोभूमि, कर्मभूमि स्थानों पर जाकर वहाँ के शिलालेख देखे-पढे और स्पष्ट तथा महत्वपूर्ण जानकारी दी है । आचार्यश्री का काल निश्चित करते समय अनेक विद्वानो के विचारो को सन्मान रखते हुए ग्रथ के आधार से अपना प्रामाणिक विचार रखने से भी नही चूके । ऐतिहासिक विषयों मे अनुमान को आस्पद नही दिया ।

तात्विक प्रामाणिकता- आचार्य श्री के जीवन विषयक प्राप्त सामग्री का उपयोग तो किया ही है । साथ ही आचार्यश्री से रचित ग्रथो के आधार से उनका मुनि जीवन, तत्वचितन, उपदेश कथन प्रस्तुत किये है । समयसार आदि ग्रथो के अध्ययन करनेवाले पाठकों को इसका पता चलेगा ही । अथवा चरित्र वाचन के बाद ग्रथो का

अध्ययन करेगे तो भी सब खुलासा हो जायगा। लेखक की यह कृति स्वतत्र होनेपर भी यथार्थ तात्विक परपरा से अत्यत निगडित्त है। परपरा तो सुरक्षित रखी है, लेकिन अन्धश्रद्धा को किचितमात्र भी स्थान नही दिया है।

भावात्मक वास्तविकता—*आचार्य सबंधी भक्तिभाव प्रगट करते समय वास्तविकता का लेखक को विस्मरण नही हुआ है। भक्ति, बहुमान, सन्मान, आदर सब कुछ होने पर भी सब तर्काधिष्ठित, सुसगत और शास्त्र सम्मत है। वीतराग तत्त्व जनमानस मे ससन्मान सहज विराजमान हो जाय, यह लेखक की भावना सफल हुई है। किसी भी प्रकरण मे आचार्य कुंदकुददेव को छोटा बनाने का अपराध नही किया है।*

बालक कुदकुद को माँ लोरियाँ सुनाती है, वे लोरियाँ सहृदय वाचको को प्रभावित करती है। इससे मुनिश्वरो के बाल-जीवन का भावभासन स्पष्ट होता है। मुनि जीवन मे होनेवाली ग्रथरचना की स्वाभाविकता पाठको के हृदय को झकजोर देती है और मुनियो की महिमा मन मे वृद्धिगत होती है। विदेहगमनरूप ऐतिहासिक घटना के लिए अनेक शिलालेखो का और ग्रथो का उल्लेख आचार्य की विशेषता मे चार चाद लगाता है।

समयसार आदि ग्रथ रचने की पार्श्वभूमि प्रभावक सिद्ध हुई है। इससे वाचको को शास्त्र स्वाध्याय की प्रेरणा मिलती है। पचास्तिकाय से लेकर भक्तिसग्रह पर्यंत का ग्रथ परिचय भी मार्मिक बन पडा है। सक्षेप मे इतना लिखना आवश्यक है कि लेखक अपने उद्देश्य मे सफल हुए है।

आचार्य कुदकुददेव

कन्नड भाषा की मधुरता व मृदुता हिदी भाषा मे लाना कैसे सभव है ? क्योकि प्रत्येक भाषा की अपनी-अपनी विशेषता होती है । लेखक का भाषाविषयक साहित्यिक, लालित्य, उपमादि , निसर्ग सौंदर्य का वर्णन सर्वांशरूप से हिदी मे लाया ही है ऐसा लिखने के लिए मे असमर्थ हूँ । तथापि ऐतिहासिक प्रामाणिकता, तात्विक एकरूपता और जिनवाणी का मूल अभिधेय वीतरागता, ऐसे मूलभूत प्राणभूत विषय मे कमी न आवे ऐसा पूर्ण प्रयास आरभ से अत तक मैने किया है । वाचक स्वयमेव रसास्वादन के साथ निर्णय करे ।

ब्र. यशपाल जैन एम ए जयपुर

दि. २५ /१२ /१९९० *श्री भरतेश्वर पाटील एम ए*

मुरगुडी, जि बेलगाव,

(कर्नाटक)
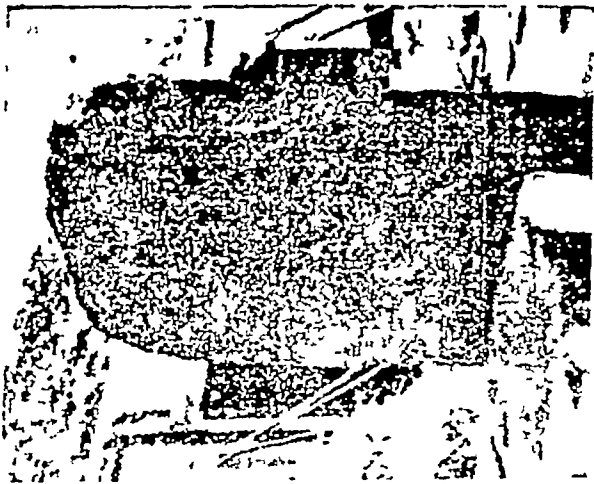
आचार्य कुदकुद की जन्मभूमि विषयक
सातवीं शताब्दी का शिलालेख (कोण्डकुद)

आचार्य कुदकुददेव के प्राचीन व पवित्र चरण चिन्ह पोन्नूरमलै (तमिलनाडु)

॥ परमात्मने नम ॥

आचार्य कुंदकुंददेव

अरुहा सिध्दायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठि ।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥ १

मंगलं भगवान् वीरो मंगल गौतमो गणी ।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

भारतीय सस्कृति मूलतः आध्यात्मिक संस्कृति है । इस सस्कृति का सार और अन्तःप्राण आत्मदर्शन ही है । अनादिकाल से प्रौढ, दूरदर्शी और विवेकी पुरुषों का प्रयत्न इसी अन्तःप्राण की प्राप्ति के लिए अनवरतरूप से चला आ रहा है । वे बाह्य प्राणो की कीमत पर भी इस अन्तःप्राण-शुद्धता को प्राप्त करने की अभिलाषा रखते है । विशेष प्रयत्न से प्राप्त इस आत्मानद के सामने विश्व का कोई भी भौतिक आनन्द उन्हे आकर्षक नहीं लगता ।

इस तरह की आध्यात्मिक स्वाधीनता और आत्मा के अखण्ड ऐश्वर्य की पूर्ण प्राप्ति जिस महापुरुष को हुई है, वही वस्तुतः स्वतत्र पुरुष है, अजित है, अक्षय है, पूर्ण सुखी है, परमात्मा है और सिद्ध भगवान है। यही सिद्धावस्था आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम साध्य है, सर्वोच्च स्थान है। यहाँ ही आत्म-विकास पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। यह ही सिद्धावस्था /कृतकृत्यावस्था है, जहाँ कुछ करना शेष नहीं रहता। **जो मुमुक्षु सिद्धत्व को प्राप्त करने के लिए निरन्तर साधना करते है, वे ही साधु कहलाते है।**

ससार और ससार के दुःखों का मूल कारण तो देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान ही है। इसी अज्ञान का नामान्तर मिथ्यात्व है। जब तक इस अज्ञान (मिथ्यात्व) का नाश नहीं होता तब तक इस आत्मा को दुःख से छूटने का मार्ग प्राप्त होने की सभावना भी नहीं है तो मोक्ष प्राप्त होने का तो प्रश्न ही कहाँ उठता ?

देहात्मबुद्धिरूप मिथ्याबुद्धि का त्याग अर्थात् सम्यग्दर्शन का ग्रहण श्रमण सस्कृति के तत्वज्ञान का सार है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव ही वास्तविक धार्मिक है, साधक है, साधु है।

सम्यग्दर्शन ही सुखी जीवन की यथार्थ दृष्टि है। सम्यक्त्वी को ही आत्माभिमुखवृत्ति प्रगट होती है। सम्यक्त्वी ही सम्यक् प्रकार से अपने गुण-दोषों का अवलोकन करके आत्मिक गुणों का विकास करता है और अज्ञानजन्य दोषों का निराकरण पुरुषार्थ से करना प्रारभ करता है। इस प्रकार शुद्धात्माभिमुख पुरुष ही जन्म-मरणादिक संसारिक अवस्थाओं का यथार्थ स्वरूप जानता है। इसलिए जीवन की लौकिक घटनाओं से उसे हर्ष, विषाद, दुःख

देह अथवा परद्रव्य के प्रति उसे आकर्षण शेष नहीं रहता। संसार का कोई भी पदार्थ उसके मन को रंजित नहीं करता।

साराश यह है कि उसकी वृत्ति आत्मोन्मुख होती है। यही साधु-जीवन का सत्य स्वरूप है। भव्य जीवों के सौभाग्य से ऐसे आदर्श साधु महापुरूष यदाकदा उत्पन्न होते रहते हैं और वे सनातन सत्य परम्परा को अक्षुण्ण तो रखते ही है भविष्य के लिए भी उसे सुरक्षित बनाते है।

परन्तु आज पाश्चात्य सस्कृति के प्रभाव से हमारे आध्यात्मिक जीवन का मूल्य विनाशोन्मुख होता जा रहा है। अहिंसा और त्याग का आदर्श पिछडकर हिंसा और भोग का प्राबल्य हो रहा है। आत्मा को देव मानकर उसकी सेवा के लिए देह का उपयोग करने के बजाय देह को देव मानकर देह की सेवा के लिए आत्मा श्रम कर रहा है।

शिक्षण, कला, उद्योग, समाज, राज्यव्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों मे भोग-प्रधान भौतिक सामग्री का नग्न नृत्य हो रहा है। शरीर मे स्थित आत्मा को महत्व न देकर शरीरादि भौतिक सामग्री को ही महत्व दिया जा रहा है। यह सामग्री जिनके पास अधिक है, उन्हें श्रेष्ठ माना जा रहा है। मूल्य आत्मा का नहीं किंतु शरीरादि भौतिक सामग्री का ही आका जाने लगा है।

इस प्रकार अक्षय आत्मा की महत्ता क्षयोन्मुख हो रही है। आत्मा का अस्तित्व ही सशय व अज्ञान के गहरे गड्ढे मे प्रवेश कर रहा है। जिसको अपने आत्म-स्वरूप का पता नहीं है, वह दूसरों की आत्माओं और उनके मूल्यों को भला कैसे जान सकता है? निज

शुद्धात्मस्वरूप को जाने बिना अन्य अनुपयोगी-अप्रयोजनभूत वस्तु को जान भी ले तो उससे क्या लाभ ? निज शुद्धात्मा को न जाननेवाला ज्ञान व बाह्य क्रियाकाण्ड सच्चे सुख के लिए सर्वथा निरुपयोगी तो है ही, साथ ही अनर्थकारी भी है ।

इस वर्तमान अवसर्पिणी के चतुर्थकाल मे भगवान ऋषभनाथ से लेकर भगवान महावीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकर, अनेक केवली,गणधर, ऋषि, मुनि आदि हुए हैं। भगवान महावीर के बाद तीन केवली और पाँच श्रुतकेवली हुए। उनमे अतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय उत्तर भारत मे 'बारह वर्ष का भीषण अकाल पडा, तब श्री भद्रबाहु स्वामी अपने शिष्यो के साथ दक्षिण भारत पहुँचे।

उस समय दक्षिण भारत मे जैन परम्परा का उज्वल प्रकाश हुआ। और भगवान महावीर की दिव्य वाणी को लिपिबद्ध करने का श्रेय दक्षिण भारत के आचार्य परमेष्ठियों को प्राप्त हुआ ; जिससे इस पचमकाल के अ त पर्यंत धर्मप्रवर्तकों का दक्षिण भारत मे होना और धर्म का दक्षिण भारत मे जीवित रहना इसे नैसर्गिक वरदान ही मानना पडेगा।

भगवान महावीर के लगभग पाँच सौ वर्ष बाद अर्थात् विक्रम सवत् के प्रारभ मे उत्तर-दक्षिण भारत के समन्वयरूप अध्यात्मलोक-मुकुटमणि, आचार्य-कुलतिलकस्वरूप महापुरुष आचार्य कुन्दकुन्द का उदय हुआ। उन्होने मानों प्रत्यक्ष केवली सदृश कार्य करके **चार मंगलों मे सहज रीति से स्थान पा लिया**। इतना ही नहीं भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद प्रथम स्थान पर विराजमान होकर शोभायमान हुए। ऐसे अलौकिक महा-पुरूष के दिव्य चरित्र

का हमे अध्ययन अवश्य करना चाहिए। एव उनकी सुखदायक साधना से परिचित होकर उसे अपने जीवन मे यथाशक्ति प्रगट करने का मगलमय कार्य करना चाहिए। अतः आइए प्रथम इनके जीवन के सबध मे अद्यावधि पर्यंत शोध-बोध से प्राप्त विषयो का ऐतिहासिक तथा तात्विक दृष्टिकोण से अवलोकन करे।

एक ओर घना जंगल और उसमे ही शिखर-समान शोभायमान उत्तुग पर्वत, उन पर्वतो को पराभूत करके अपनी उन्नति को दर्शानेवाले गगनचुम्बी वृक्ष, दूसरी ओर समतल प्रदेशो मे उगी हुई हरी-भरी घास का मैदान तथा इन दोनो के मध्य मे मन्द मन्द प्रवाहमान स्वच्छ जल की निर्झरणी, ये सब एकत्र होकर निसर्ग सौन्दर्य के अत्यधिक वैभव को दर्शा रहे थे।

यह स्थान नगर के कृत्रिम जीवन से श्रान्त जीवो को स्वाभाविक, सुख-शान्तिदायक था। **इस शांत तथा निर्जन स्थान मे यदाकदा ससार, शरीर और भोगो से विरक्त अनेक साधुवर आकर उन पर्वतों की गुफाओं मे बैठकर आत्मा की आराधना करते थे; अनुपम आत्मानंद भोगते थे।**

लगभग पद्रह वर्ष का कौण्डेश नामक ग्वाला था। यह एक भोला-भाला, सरलस्वभावी नवयुवक अपने स्वामी की गायो को लेकर उसी घास के मैदान मे चरने के लिए छोडता था। और स्वय उस निर्मल व मनमोहक निर्झरणी के पास विशाल शिलाखण्ड पर बैठकर प्रकृति के सौन्दर्य का रसपान किया करता था।

एक दिन कितने ही सुसस्कृत नागरिको को उस जगल मे आते हुए देखकर कौण्डेश को आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा —"मै

चार-पाँच वर्षों से यहाँ रोज आ रहा हूँ, पर ऐसे व इतने लोग कभी इस जगल मे आये नहीं–आज ये लोग क्यो आ रहे है ?" इस प्रकार कौतूहल से वन प्रदेश मे पैदल रास्ते से जाते हुए उन लोगो को देखता हुआ खडा रहा। न जाने क्या सोचकर चरती हुई गायो को छोडकर वह नवयुवक उन नागरिको के पीछे चल पडा।

उस प्रौढ बालक के मन मे चलते समय अनेकानेक विचार उत्पन्न हो रहे थे–"कोमल कायावाले ये धनवान लोग काटो-पत्थरों से भरी हुई भूमि पर नगे पाव चलते हुए और गर्मी के कारण चलनेवाली लू की भी चिता न करते हुए जा रहे है, अतः यहाँ कोई न कोई महत्वपूर्ण पवित्र स्थान अवश्य होना चाहिए। अन्यथा ये बडे और सुखी लोग यहाँ क्यों आते ? " इस प्रकार विचार करता हुआ कौण्डेश आगे बढ रहा था।

इतने मे ही सामने एक उच्च शिलाखण्ड पर एक दिगम्बर महामुनीश्वर दिखाई दिये; उनके पास पहले से ही कुछ लोग बैठे थे। ये लोग भी वही जाकर बैठ गये। सभी लोग अपने सर्वांग को मानो कान ही बनाकर अत्यत एकाग्र चित्त से साधु महाराज का उपदेश सुन रहे थे। और उपदेशदाता की वीतराग, शात, गभीर मुखमुद्रा को देखकर अति आनदित हो रहे थे। अपने कान तथा ऑखों को सफल समझ रहे थे।

प्रातः काल से सन्ध्यापर्यंत गायो के साथ ही एकमेक होकर प्रकृतिकी गोद मे अपना जीवन व्यतीत करनेवाले उस नवयुवक को उन लोगो की रीति-रिवाज का पता नहीं था। इस कारण कौण्डेश आश्चर्यचकित होकर वही एक वृक्ष की ओट मे खडे होकर उन महामुनिराज के अमूल्य वचनो को एकाग्र चित्त से सुन रहा था।

यथार्थ व अनादिनिधन वस्तुस्वरूप तथा भगवान आत्मा के शुद्धात्मनिरूपक स्पष्ट, मधुर व महान उपकारी उपदेश उस ग्वाले के स्वच्छ मनमदिर मे समा रहा था। इस समय " मै ग्वाला हूँ गायों का सरक्षण सवर्धन, पालन-पोषण करना मेरा कार्य है" इत्यादि अपनी तात्कालिक पर्याय-अवस्था का उसे सर्वथा विस्मरण हो गया था। सतोषामृत से तृप्त महायोगी के उपदेश सुनने के लिए ही मेरा जीवन है, ऐसी भावना उसके मन मे जन्म ले रही थी।

उपदेश समाप्ति पश्चात् सभी सभ्य समागत श्रोता तो चले गये, तथापि कौण्डेश उपदेशित विषय के चिन्तन मे ही मग्न होने से पेड की तरह वहीं खडा रहा। कुछ समय बाद मानो नींद मे से ही जागृत हो गया हूँ –ऐसा उसे लगा। देखता है तो सूर्य उस दिन की अपनी यात्रा समाप्त करके आकाश के पश्चिमी छोर से समस्त विश्व को अरूण किरणो से आवृत कर रहा हो। मानों दिगम्बर साधु के होनेवाले वियोग से वह स्वय दुःखी हो रहा हो। अज्ञानी लोग आनेवाले गाढ अन्धकार को न जानकर मनमोहक कोमल अरूण किरणो मे ही मोहित हो रहे थे।

कौण्डेश वहॉ से गायो के पास आया और उन्हे हाँककर घर ले जाने लगा। इतने मे बहुत जोर से वर्षा होने के कारण वह सम्पूर्ण भीग गया। प्रतिदिन गायो को गो-शाला मे बाधकर भोजन करके सो जानेवाला वह ग्वाला आज कुछ भी खाये-पिये बिना ही सो गया।

सो तो गया, लेकिन रातभर उसे नींद नहीं आयी। वह मुनिमहाराज के उपदेश का ही चिन्तन-मनन करता रहा। अपनी बालबुद्धि के अनुसार सत्यासत्य का निर्णय करने की चेष्टा मे निमग्न

हो गया। यदि वस्तुस्वरूप मुनिमहाराज के उपदेशानुसार है तो मानव का दिन-रात चलनेवाला प्रयत्न क्या इन्द्रजाल है ? यदि आत्मा शाश्वत है तो जन्म-मरण का क्या अर्थ है ? इस प्रकार चिन्तन करते-करते प्रातःकाल हो गया।

सुबह के काम के लिए कौण्डेश उठा ही नहीं। उलझन भरे भावना लोक मे विचरते हुए उसे बाह्य जगत की कुछ परवाह नहीं थी। अतः उसे ढूढते-ढूढते उसका मालिक गोशाला मे आ गया। उसने लेटे हुए कौण्डेश के शरीर पर हाथ रखा तो उसे गरम लोहे पर हाथ रखने का सा अनुभव हुआ। कौण्डेश ज्वर-पीडित था क्योंकि शरीर बारिश मे भीग गया था, रातभर नींद भी नही आई थी। मालिक को भय-सा लगा। उसने शीघ्र ही वैद्यों को बुलाकर उपचार कराया। अनेक प्रयत्न करने पर भी ज्वर सप्ताह पर्यंत उतरा ही नही। कौण्डेश बहुत अशक्त हो गया। ज्वर उतरने के एक सप्ताह बाद भी गायो को चराने के लिए वह जगल मे नहीं जा सका।

इन दो सप्ताहो के अन्तराल मे केवल कौण्डेश के शरीर और विचारो मे ही परिवर्तन हुआ हो ऐसा नही किंतु जगल की स्थिति भी आमूलचूल बदल गयी थी। **निसर्ग-प्रकृति मानव की इच्छानुसार रहे-ऐसा बिल्कुल नहीं है। जड़पुद्गलो की सत्ता-अस्तित्व भी स्वतत्र है। उनमे परिवर्तन भी स्वतंत्र ही होता रहता है। उस परिवर्तन के लिए किसी परिवर्तनकार भगवान की अथवा विशिष्ट मानव की अनादि काल से आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती रहती है।**

कौण्डेश दो सप्ताह के बाद गायो के साथ उसी पुरानी जगह जाकर देखता है कि हरे-भरे वृक्षों से भरा वह कानन आग की चपेट में आकर श्मशान सदृश भस्मीभूत हो गया है। वृक्षों की शाखाओं मे घर्षण हो जाने से उत्पन्न अग्नि सम्पूर्ण अरण्य की आहुति ले चुकी थी। शिकायत भी किससे करे ? कौन सुनेगा ?

प्रत्येक जड-चेतन वस्तु मे उनकी योग्यता के अनुसार ही सतत परिवर्तन होता रहता है। ज्ञानी जीव इस स्वाभाविक परिवर्तन को सहज स्वीकार करके सुखी रहता है और अज्ञानी व्यर्थ ही राग-द्वेष करके दुःखी होता है। इस विश्व मे किसी भी जीव को अन्य कोई जीव अथवा जड पदार्थ सुखी-दुःखी कर ही नहीं सकते, यह तो त्रिकालाबाधित सत्य है।

जगल मे सर्वत्र दृष्टिपात करने से यहॉ-वहॉ केवल पर्वत के शिखर ही दिखाई दे रहे थे। एक भी वृक्ष का नामोनिशान नही था। आश्चर्यचकित उस बाल-ग्वाले ने चारो तरफ नजर घुमाकर देखा तो पास ही मे किसी एक वृक्ष का तना-सा दिखाई दिया। तथापि उसे विश्वास नहीं हुआ —कोई चट्टान-सी लगी। इस दावानल मे वृक्ष का तना कैसे सुरक्षित रह सकता है ? इसी सदेह के साथ वह आगे बढकर देखता है तो वह एक विशाल वृक्ष का तना ही था। इसके ऊपरी भाग को कब किसने काटा था, सर्वज्ञ ही जाने। वह तना आग की लपेट मे न आकर पूर्ण सुरक्षित बच गया था। यह जानकर कौण्डेश को परम आश्चर्य हुआ।

इस विशाल भयकर वन को किसने जलाया और वृक्ष के मात्र इस तने को किसने बचाया ? काल की गति विचित्र है। प्रत्येक

वस्तु का स्वभाव स्वतंत्र व अद्भुत है। वह कानन अपनी योग्यता से जल गया और यह तना अपनी योग्यता से बच गया। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है-ऐसा सोचकर उसका ध्यान १५ दिन पूर्व सुने हुए मुनिराज के उपदेश की ओर चला गया।

जगल मे साधु महापुरुष ने द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता की बात कही थी। वह कथन सर्वथा सत्य है। हम उस स्वतंत्रता को न मानते हुए अपने अज्ञान से अपना ही अहित कर रहे है।

इस प्रकार सोचता हुआ कौण्डेश उस वृक्ष के तने के पास पहुँचकर देखता है कि तने के कोटर मे ताडपत्र सुरक्षित है। ताडपत्रो को बाहर निकालकर देखते ही पता चलता है कि ये केवल ताडपत्र ही नही लेकिन ताडपत्रो पर शास्त्र लिपिबद्ध है। ग्वाले ने सोचा - इस शास्त्र की सुरक्षा हो इस कारण से ही यह तना बच गया है, अन्यथा यह कैसे सभव था ?

उसे याद आया कि आत्मा के चिर-अस्तित्व का निरूपण करते हुए उस दिन मुनीश्वर ने कहा था (आत्मा धूप से नहीं मुरझाता, जल मे नहीं भीगता, अग्नि से नहीं जलता, तीक्ष्ण धारवाले खड्ग से नहीं भेदा जा सकता)-इस शास्त्र मे भी ऐसे ही आत्मा का विवेचन होगा इसलिए ऐसी भयकर अग्नि मे भी यह सुरक्षित रह गया है।

'परम शात मुद्राधारी उन मुनिमहाराज ने मुझे मेरी आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझाया है। अतः मुझे भी उन्हे यह अदाह्य—न जलनेवाला अमूल्य ग्रथ देकर कृतार्थ होना चाहिए। इससे गुरू के मुख से शास्त्र सुनना सार्थक हो जायेगा। मेरी कृतज्ञता भी व्यक्त होगी' इसी निर्णय के साथ कोण्डेश वन मे मुनिमहाराज को खोजने लगा।

किसी विशिष्ट साधन के बिना ही "यहाँ होगे, वहाँ होगे " इस प्रकार सोचते हुए दूढते हुए अनेक छोटे-बडे पर्वत शिखरो पर चढकर फिर उतरकर अनेक गिरि कन्दराओं मे अन्दर जाकर देखा, पर कहीं भी मुनीश्वर का सकेत भी नही मिला। उसीसमय ग्वाले को गाये कहीं चली न जाएँ—ऐसा भय भी लगा, पर तत्काल ही यह विचार भी आया कि—

प्रत्येक पदार्थ अनादि से स्वय से है—स्वयभू है। तथा उसका परिणाम भी स्वतंत्र है। एक पदार्थ के परिणमन मे अन्य किसी पदार्थ की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। इस विश्व मे सब स्वतंत्र है। अज्ञानी वस्तुस्वरूप को न जानने से व्यर्थ ही दुःखी होता है। इस चिरतन सत्य तत्त्व के स्मरण से उसे सतोष हुआ और पुनः उत्साह से गिरि-कन्दरों मे मुनिराज को खोजने लगा।

इसी प्रकार कौण्डेश अनेक गिरि कन्दराओं पर चढता-उतरता चला जा रहा था। इसी बीच सूर्य की प्रखर उष्णता में एक शिला पर विराजमान ध्यानस्थ मुनीश्वर के पावन दर्शन हुए। आनद विभोर होकर वह अतिशीघ्रता से मुनिराज के पास पहुँचा। उसने तत्काल जान लिया कि ये सच्चिदानन्द, ज्योतिपुज, शात, गभीर तथा विशेष सौम्य मुद्राधारी वे ही मुनीश्वर है, जिन्होने मुझे आत्मबोध दिया था। उसने साधु महापुरूष को अत्यन्त भक्तिभाव से साष्टाग नमस्कार किया।

तब अतीन्द्रिय आनद मे लवलीन अर्थात् शुद्धोपयोग से शुभोपयोग की ओर आने वाले मुनिराज ने अवनि और अम्बर के मध्य मे स्थित कोमल किरण सहित बालभास्कर के समान अत्यन्त

मनोहारी, सुखदायक अपने नेत्रयुगलों को खोलकर देखा । मात्र भगवान आत्मा को ही देखने की प्रवृत्ति वाले उन मुनिराज को कौण्डेश मक्खी के पख से भी पतले परदे मे आवृत्त ज्ञाननिधि ही दिखाई दिया । मुनिराज के आर्शीवाद रूपी जल से अभिषिक्त कौण्डेश ने अत्यन्त विनम्र एवं पूर्ण भाव से मुनि पुगव से निवेदन किया –

"**हे प्रभो ! आपके उपदेशामृत के फलस्वरूप स्वयमेव प्राप्त हुआ यह ग्रंथ आप स्वीकार करके मुझे कृतार्थ करें**" ऐसा कहकर उसने ताडपत्र-ग्रथ को मुनिराज के पवित्र करकमलो मे अति विनम्रभाव से समर्पित किया । इस शास्त्रदान के फलस्वरूप ज्ञानावरण कर्म पटल हटते गये-ज्ञान विकसित होता गया ।

दैवयोग से प्राप्त उस ग्रथ-निधि को मुनिराज को समर्पित कर कौण्डेश जहॉ गाये चर रही थी उस स्थान की ओर तत्काल शीघ्र गति से चला । तथा सूर्य कौण्डेश से भी तीव्रतर गति से पश्चिम की ओर गमन कर रहा था । सूर्यास्त से पहले ही गायों को लेकर घर पहुँचने की आशा से कौण्डेश क्रमशः आनेवाले सभी पर्वतशिखरो पर चढ-उतर कर गायो के पास पहुँच गया । उस समय सूर्यास्त होकर अन्धकार छा रहा था । कौण्डेश को देखकर सभी गायो ने रभाकर उसका स्वागत किया । उसका सकेत पाकर सभी गाये घर की ओर जाने लगी ।

समय रात्रि का था । कौण्डेश गायों के पीछे-पीछे चलता हुआ दिन मे घटित घटनाओं का स्मरण कर रहा था । गाव के निकट एक वृक्ष के कोटर मे से कुछ आवाज आई, जिससे डरकर गायो

का झुड भागने लगा। अपने पाँव से किसी एक चीज को झटकाकर एक गाय भाग गयी। गायो के पीछे आनेवाले कौण्डेश को किसी मुलायम चीज के ऊपर पाँव रखने का-सा आभास हुआ, वह जोर से चिल्ला उठा और वहीं गिर गया। वहाँ से गुजरनेवाले एक व्यक्ति ने नजदीक जाकर प्रकाश द्वारा देखा तो ज्ञात हुआ कि कौण्डेश को साँप ने काट लिया है, तथा उसके पैर से खून बह रहा है।

गाव के पास वाली चट्टान पर ही यह घटना घटी थी। अतः थोडे ही समय मे यह समाचार गाव भर मे फैल गया। मालिक घबडाकर भागता हुआ घटनास्थल पर आया और कौण्डेश को घर ले गया। वैद्यो ने उसे बचाने का अत्यधिक प्रयास किया। मन्त्र-तन्त्र भी किये गये, पर कौण्डेश जीवित नही रह सका। अतिम श्वास लेते समय भी उसने कहा "**मै नहीं मरता। मै तो अजर-अमर हूँ। मै आत्मा हूँ और मुझे जन्म-मरण है ही नही। मै अनादि-अनत ज्ञान व सुखमय भगवान आत्मा हूँ।**" इस प्रकार हकलाते हुए बोलकर वह सदा के लिए मौन हो गया। कौण्डेश की निर्भयता, बुद्धिमत्ता और दृढता जानकर गाँव के सभी लोग आश्चर्यचकित हुए। प्रतिष्ठित पुरुष की भाँति उसका अतिम सस्कार किया गया।

वर्तमान मे **आन्ध्रप्रदेश** के अंतर्गत आने वाले **अनतपुर** जिले के गुटि तहसील मे **कोनकोण्ड** नामक गाव है। यह गाव **गुतकल रेल्वे स्टेशन** से दक्षिण दिशा मे पाँच किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। प्राचीन शिलालेखो से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह गाव पहले **कर्नाटक राज्य** मे था।

प्राचीन काल मे कोण्डकुद या कोण्डकुन्दे नामक एक बहुत बडा शहर था[1], जहाँ वर्तमान मे इसी नाम से छोटा सा ग्राम है, गाव के निकट लगभग १५० फीट ऊँचा एक पर्वत है जिसके ऊपर एक ही नीम का वृक्ष है। इसी वृक्ष के पास साडे तीन फीट ऊँची अरहत भगवान की दो खडगासन मूर्तियाँ है। इन मूर्तियो के मस्तक के ऊपर पाषाण मे उकेरे हुए तीन-तीन छत्र है। और दोनो तरफ चामरधारी देव खडे है। मूर्ति के नीचे कोई भी चिन्ह नही है, अतः किन तीर्थकरो की मूर्तियाँ है यह कहना असभव है। इन मूर्तियो की रक्षा के लिए तीनो तरफ पाँच पाँच फीट ऊँची दीवार बनी हुई है, जिन पर छत नही है। यहाँ के लोग इन मूर्तियो को सिद्धस्वामी कहते है और वैदिक सम्प्रदाय के अनुसार पूजा होती है। यहाँ गाव मे अथवा क्षेत्र पर एक भी जैन नहीं है।

इन मूर्तियों से लगभग ३० फीट की दूरी पर एक समतल विशाल शिलापर जम्बूद्वीप का खुदा हुआ सुन्दर नक्शा है और वहीं दूसरे शिलापर करीब छह फीट लम्बा दिगम्बर मुनि का खड्गासन रेखाचित्र है, जिसके नीचे पत्थर मे खुदा हुआ कमल पुष्प है। आचार्य कुन्दकुन्द देव के स्मरणार्थ इसे बनाया गया होगा—ऐसा लगता है।

यहाँ रहनेवाले लोगो से पूछा तो चर्चा से यह बात समझ मे आई कि उन्हे जैनत्व का कुछ भी परिचय नही है। ये लोग इस छोटी-सी पहाडी को सिद्धस्वामी का निवास स्थान कहते है। सिद्धस्वामी के विषय मे पूछने पर कहते है—समय पर वर्षा न हो तो इस पहाडी पर आकर पूजा-प्रार्थना करने से वर्षा होती है। तथा किसी परिवार

---

[1] श्री पी बी देसाई द्वारा लिखित "जैनिज्म इन् साउथ इडिया एण्ड जैन एपिग्राफ्स" पृष्ठ-१५२ से १५७ उद्धृत

मे किसी के ऊपर कुछ दुःख सकट आनेपर सिद्ध स्वामी की भक्ति करने से दुःख-सकट दूर हो जाते है। इस पहाडी के ऊपर अथवा आस-पास के प्रदेशो मे जो भी चोरी-हिंसा आदि पाप करता है उसे कोई न कोई सकट अवश्य आ जाता है।

इस तरह इस क्षेत्र के सम्बन्ध मे वहाँ के लोगो की भक्ति-श्रद्धा जानकर हमे आश्चर्य हुआ। इस स्थान को हमे दिखाने आए हुए गरीब, युवा लोगो को दयाभाव से कुछ रूपये देने का प्रयास किया तो उन्होंने "सिद्धस्वामी के दर्शनार्थ आनेवाले लोगों से हम पैसा लेगे तो हमारा जीवन दुःखमय तथा बर्बाद हो जायगा—हमे पाप लगेगा"— ऐसा कहकर रुपये लेने से इन्कार कर दिया।

इन सभी घटनाओं के निरीक्षण से इस क्षेत्र की महिमा आज भी जन-मानस मे जीवित है—यह स्पष्ट हुआ।

यहाँ प्राप्त प्राचीन अवशेषो से ज्ञात होता है कि यह प्रदेश प्राचीन काल मे जैनों का केन्द्र रहा था। यहाँ के चन्नकेश्वर मदिर के पास जमीन पर एक शिलाखण्ड पडा है। उसके ऊपर जैन तीर्थकरों की पद्मासन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। उसी के नीचे अति कष्टपूर्वक पढने लायक शिलालेख है। इस शिलालेख के प्रारभ मे जिनेन्द्र भगवान की प्रार्थना खुदी हुई है, जो इस क्षेत्र की महिमा को व्यक्त करनेवाली जानकारी देती है। उस पर आगे लिखा है —**यह स्थान विश्व मे सर्वश्रेष्ठ है। संसार-सागर को पार करने के लिए नौका समान अनेकात विद्या है। उस विद्या के बल से विश्व को जीतने वाले यति श्रेष्ठपद्मनंदि भट्टारक की यह जन्मभूमि है।**

इस शिलालेख के दूसरे बाजू पर तेलगू भाषा मे भी शिलालेख है। अनेक लेख प्राचीन भाषा मे भी उपलब्ध है। यहाँ ही ईसा की

७ वी शताब्दी और १०-११ वीं शताब्दी से सबधित शिलालेख भी देखने को मिलते है। इसमे से अनेक शिलालेख जैनधर्म विषयक भी है। १६ वीं शताब्दी से सबधित शिलालेख मे न्याय-शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आचार्य विद्यानद स्वामी का भी उल्लेख है।

इस गाव के दक्षिण मे एक चट्टान पर तीन फीट ऊँची एक नग्न मूर्ति है। उसके पास ही अनेक शिलाखण्ड है, जिनके ऊपर जैनधर्म से सबधित अनेक चिन्ह खुदे हुए है। समीप ही एक स्वच्छ जलाशय-सरोवर भी है। इस प्रकार यह स्थान अपने प्राचीन वैभव को तथा त्याग और तपस्या की महिमा को आज भी झलकाता है।

परन्तु खेद की बात यह है कि किसी भी जैन सस्था अथवा भट्टारक पीठ ने यहाँ धर्मशाला, पुजारी आदि की कुछ भी व्यवस्था नहीं की है। आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी वर्ष के निमित्त से कुछ व्यवस्था विषयक कार्य यहाँ बनना चाहिए।

अतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी अकाल के कारण अपने शिष्यो के साथ दक्षिण भारत आये थे, इस कारण उस काल मे दक्षिण भारत मे जैनधर्म का प्रचार-प्रसार तीव्र गति से हुआ था। लगभग सभी राजवश जेनधर्मावलबी थे और वे अपने-अपने राज्य मे जैन सस्कृति की प्रभावना करने मे गौरव का अनुभव करते थे। उसी समय **जिनकची और पेनगोडे**[1] इन दोनों क्षेत्रो पर समर्थ जैन

---

[1] दोनों जगहो के दि जैन मदिर अभी भी सुरक्षित है, लेकिन जैन सस्था के अन्य भवनो पर अजैनों का कब्जा है। पेनगोंडा का जैन भवन आज मस्जिद बन गया है। दोनों जगह एक भी जैनी का घर नहीं है। पेनगोंडे मदिर मे पार्श्वनाथ की मूर्ति अत्यन्त मनोज्ञ है। तथापि व्यवस्था अच्छी नहीं है। जिनकची का मदिर ई स पूर्व ५वीं शताब्दी का है—ऐसा इतिहास मिलता है। यहाँ के पुजारियों के पास सौ से भी अधिक ताडपत्र ग्रथ है। ये सभी ग्रथ ग्रथि लिपि मे लिखे गये हैं।

सस्थाओं की स्थापना की गई थी। इन सस्थाओं के कारण दक्षिण भारत मे तत्वप्रचार का कार्य विशेष हो रहा था। अतः ई स पूर्व तीसरी शताब्दी मे जैनधर्म दक्षिण भारत मे विशेष उन्नत अवस्था को पहुँच चुका था। अनेक दिगम्बर महामुनीश्वर भी सर्वत्र विहार करके वस्तुधर्म-सत्य सनातन, वीतराग जैनधर्म का उपदेश करते थे। और स्वय साक्षात् जीवत सत्य-धर्म स्वरूप समाज के सामने विचरण करते थे।

कोण्डकुन्दपुर जैनों का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ पेनगोंडा सघ के मुनिराजों का विहार पुनः पुनः होता था एव मुनिश्वरों के निमित्त से तत्वचर्चा, धर्मोपदेश एव पण्डितों के प्रवचन भी होते रहते थे।

नगरसेठ **गुणकीर्ति** मुनियो की सेवा-सुश्रुषा मे अत्यधिक रुचि लेते थे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती **शान्तला** भी पति के समान धर्मश्रद्धालु नारीरत्न थीं। पूर्व पुण्योदय के कारण उनको किसी भी प्रकार के भौतिक वैभव की कमी नहीं थी। रूप-लावण्य, यौवन, कीर्ति और सपदा सभी से सुसम्पन्न होने पर भी उन्हे अपने वश के उत्तराधिकारी पुत्ररत्न का अभाव खटकता था और यह अभाव दोनो को भस्मावृत अगारे के समान सतत जलाता रहता था। गुरूमुख से ससार-स्वरूप का वर्णन सुनकर कुछ क्षण के लिए अपना दुःख भूल जाते थे, परन्तु दूसरे ही क्षण पुत्र का अभाव उन्हे पीडा देता था। ऐसा होने पर भी पुत्र-प्राप्ति के लिए कुदेवादि की शरण मे तो गए ही नहीं, लेकिन ऐसा अज्ञानजन्य अन्यथा उपाय का विचार भी उनके मन मे नहीं आया। फिर किसी से प्रार्थना करना तो दूर की बात है।

वे दोनो पति-पत्नी वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी सच्चे देव के स्वरूप को निर्णयपूर्वक जानते थे। **कोई किसी को अनुकूल-प्रतिकूल**

वस्तुयें दे नहीं सकता, कोई वस्तु जीव को सुख-दुःख दाता है ही नहीं । अनुकूलता-प्रतिकूलता तो पूर्वकृत पुण्य-पाप कर्मोदय का कार्य है । ऐसा वस्तुस्वरूप का उन्हे यथार्थ तथा निर्मल ज्ञान था' तथापि पुत्र का अभाव उन्हे अन्दर ही अन्दर शल्य की तरह खटकता था ।

कालचक्र अपने स्वभाव के अनुसार गतिमान था ही । उसे कौन और कैसे रोकेगा ? और काल रुकेगा भी कैसे ? सेठ गुणकीर्ति और सेठानी शातला तत्वचिन्तनपूर्वक पूर्व-पुण्योदयानुसार अपना जीवन यापन करते थे । इसी बीच पेनगोडा से एक समाचार आया "फागुन की अष्टाह्निका महापर्व मे पूजा, महोत्सव के साथ करने का निर्णय किया है—आप दोनों इस धर्म कार्य मे जरूर आवे । प्रवचन, तत्वचर्चा तथा भक्तिआदि का लाभ लेवे । प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अवसर का लाभ लेना चाहिए" इस प्रका र का समाचार था ।

समाचार जानकर गुणकीर्ति सेठ को विशेष आनन्द हुआ । "हम उचित समय पर पेनगोंडे पहुँचेगें"- ऐसा सदेश पत्रवाहक के द्वारा भेज दिया । और निश्चित समय पर पेनगोडे पहुँच गये ।

जिस प्रकार स्वर्ग के देव नन्दीश्वर द्वीप के अकृत्रिम चैत्यालयो की अष्टाह्निका पर्व मे पूजा करते हैं, उसीप्रकार गुणकीर्ति और शान्तला ने पेनगोंडे के पच्चे श्री पार्श्वनाथ भगवान की आठ दिन मे महामह नामक पूजा की । अष्टाह्निका पर्व मे ही योगायोग से आचार्य श्री जिनचन्द्र से अध्यात्म-विषय सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । इसकारण दोनो को मानसिक समाधान तो प्राप्त हुआ ही साथ ही तत्वदृष्टि अधिक निर्मल व दृढ बन गयी । पर्वोपरान्त चतुर्विध सघ को आहारदान एव शास्त्रदान देकर सतृप्त मन से वे घर लौटे ।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन भगवान महावीर की जन्म-जयन्ती अपने गाँव मे धूम-धाम से मनाकर चतुर्विध सघ को भक्ति से आहार और शास्त्रदान दिया। तदनन्तर अक्षय तृतीया को चतुर्विध सघ को चार प्रकार का दान दिया। अन्य दिनो मे भी यथाशक्ति भक्तिपूर्वक श्रावक के योग्य देवपूजा आदि पुण्यकार्यो मे सहज सावधान रहते थे। इस तरह तीन माह केवल धर्म-श्रद्धा से अर्थात् आत्माशान्ति और भौतिक सुख से निरपेक्ष परिणामो से धर्म-साधना करते रहे। इनका फल उन्हे शान्ति व समाधान तो मिला ही एव पुत्र अभावजन्य जो आकुलता थी, वह भी नही रही। दृष्टि एवं ज्ञान सम्यक् हो जाने से लौकिक कामनाएँ स्वयमेव लुप्त हो गई। प्रकाश के आगमन से अधकार का निर्गमन स्वयमेव होता है, उसे भगाना नहीं पड़ता।

सेठ गुणकीर्ति और शातला के दिन तत्त्वचितवन के साथ सुखपूर्वक व्यतीत हो रहे थे। एक दिन पिछली रात्रि के समय शातला ने दो स्वप्न देखे—प्रथम स्वप्न मे एक धवल, पुष्ट एव सुन्दर बैल अपने मुख मे प्रवेश करता हुआ देखा। दूसरे स्वप्न मे आकाश के ठीक मध्य मे अपनी अतिशीतल व कोमल किरणो से समग्र पृथ्वीतल को शुभ्र बनाता हुआ पूर्ण मनोहर अमृतमय चद्र का अवलोकन किया।

स्वप्न पूर्ण हुए और निद्रा भग होने से शातला जाग गयी। समीप ही सोये हुये पति गुणकीर्ति को निद्रित अवस्था मे ही छोडकर वह शयन गृह से बाहर आयी। स्नानादि नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर धवल वस्त्र पहनकर अपने गृह—चैत्यालय मे प्रवेश किया। वीतराग-सर्वज्ञ प्रभु का भक्तिभावपूर्वक दर्शन कर पूजन की, नित्य नियमानुसार जाप किये। इतने मे ही गुणकीर्ति दर्शन के लिए चैत्यालय मे आये।

पश्चात् प्रतिदिन की भाँति स्वाध्याय प्रारम्भ हुआ। जीवतत्व का प्रकरण चल रहा था। योगानुयोग से आज विषय सुलभ रीति से स्पष्ट हुआ। केवली भगवान द्वारा प्रतिपादित भगवान आत्मा की बात सचमुच अलौकिक ही है—ऐसा दोनो को हृदय से जचा।

स्वाध्याय समाप्त करके शातला अपने कक्ष मे जाकर आसन पर बैठ गई। सोचने लगी—मुझे मेरा पुण्योदय ही समझना चाहिए कि योग्य पति का सयोग मिला, अन्यथा जीवन दुःखद हो जाता।

आज शातला के मुख पर एक अपूर्व काति झलक रही थी और अलकार भी विशेषरूप से शोभायमान हो रहे थे। गुणकीर्ति भी सहजभाव से शातला के कक्ष मे आकर बैठ गये। मधुर हास्य से शान्तला ने गुणकीर्ति का स्वाभाविक स्वागत किया और प्रमोद व्यक्त करते हुए कहने लगी "हे प्राणप्रिय! मैने आज अर्धरात्रि के पश्चात् दो स्वप्न देखे हैं।" तदनन्तर शान्तला ने उन स्वप्नों का सानद सविस्तार वर्णन किया और जिज्ञासा से फल पूछा।

गुणकीर्ति कुछ समय पर्यन्त किंचित् गभीर हुए। निर्णय मात्र के लिए ऑखे बद करके कुछ विचार किया और पत्नी की ओर देखते हुए स्वप्न-फल कहना प्रारभ किया। "हे प्रिये! ये स्वप्न हमारी बहुत दिनों की इच्छा को पूरी करने वाले हैं। धवल वृषभ का प्रवेश धर्म दिवाकर स्वरूप पुण्यवान जीव तुम्हारे गर्भ मे आया है-यह सूचित करता है। और चद्रमा की चॉदनी यह स्पष्ट करती है कि उस धर्म-दिवाकर के उपदेश से भव्य जीवो को सुख-शाति का मार्ग प्राप्त होगा।

स्वप्नश्रवण से प्रमुदिता शान्तला अपने पति से निवेदन करती है। प्राणनाथ! मुझे पेनगोडे जाकर पार्श्वनाथ भगवान के दर्शन

करने की तथा आचार्य जिनचद्र के दर्शन करने की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हुई है। कृपया शीघ्र व्यवस्था कीजिए, मेरा जीवन धन्य हो जायेगा।

दूसरे ही दिन पति-पत्नी दोनों पेनगोडे पहुँच गये। वहाँ भगवान पार्श्वनाथ की अत्यत भक्ति से पूजा की और भक्ति तथा कृतज्ञतापूर्वक आचार्य जिनचद्र के दर्शन किए। अत्यन्त विनय से और उत्कठित भाव से शान्तला देवी ने स्वप्न समाचार बताया। अष्टाग निमित्तज्ञानी आचार्य ने स्वप्नफल सुनाया।

"आपके गर्भ से आसन्न भव्य जीव जन्म लेनेवाला है। वह तीर्थकर द्वारा उपदेशित अनादि-अनत, परमसत्य, वीतराग धर्म का प्रवर्तक बनेगा। और विशेष बात यह है कि भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद उसका ही नाम प्रथम लिया जायगा। इसकारण यह कोण्डकुन्दपुरनगर इतिहास मे प्रसिद्ध होगा। पतितोद्धारक यह महा-पुण्यवान जीव जब पूर्वभव मे कोण्डेश नामक ग्वाला था, तब उसने एक दिगम्बर मुनीश्वर को शास्त्रदान दिया था। उस दान के पुण्य-परिणामस्वरूप ही कोण्डकुन्द नगर मे वह तुम्हारे यहाँ जन्म ले रहा है। यह अपूर्व योग है।"

"प्रत्येक जीव को अपने परिणामो का फल मिलता है" यह त्रिकालाबाधित सिद्धान्त सहज रीति से समझ मे आता है। ऐसा सातिशय पुण्यशाली जीव आपके वश मे जन्म लेगा इससे आपके पवित्र परिणामों का भी परिचय होता है। ३०-३२ वर्ष के इस दीर्घ जीवन मे इन तीन महीनों मे शास्त्रदान के जैसे उत्साही भाव परिणाम हुए वैसे परिणाम पहले कभी आपके मनोमदिर मे हुए थे क्या ? इस

पुण्यवान जीव का आपके गर्भ मे आगमन और शास्त्रदान का परिणाम इन दोनो मे ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सबध है। तथापि उस जीव का आगमन तथा शास्त्रदान के आपके परिणाम पूर्ण स्वतत्र है।

"जन्म लेनेवाले जीव के परिणाम और माता-पिता के परिणाम दोनो स्वतंत्र है। प्रत्येक जीव अथवा अन्य किसी भी पदार्थ मे होनेवाला परिणाम उस-उस पदार्थ की योग्यता से ही होता है। इसमे कोई किसी का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। इस वस्तुस्वरूप का परिज्ञान नहीं होने से अज्ञानी पर पदार्थ का अपने को कर्त्ता मानता है —"मैने किया" ऐसा मानता-जानता है। ऐसे मिथ्या अभिप्राय से ही दुःखी होता है। तीन महीनों मे की गयी धर्माराधना के फलस्वरूप पुत्रोत्पत्ति होगी ऐसा समझना भ्रान्ति है। धर्माराधना के समय आपके मन मे कोई भी लौकिक अनुकूलता मिले ऐसी आशा-आकांक्षा भी नहीं थी।"

धर्माचरण निरपेक्ष भाव से ही किया जाता है। शास्त्र का स्वाध्याय न करने के कारण लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते और अधर्म को धर्म मानकर अपना अहित करते रहते है। अपने परिणामों को सुधारने के स्थान पर बाह्य क्रियाकाण्ड मे ही डुबकियाँ लगाते रहते है। जीव का बिगाड़-सुधार तो अपने परिणामों पर निर्भर है, न कि बाह्य क्रियाओं पर। धर्म तो अन्दर अर्थात् आत्मा की अवस्था मे होता है- (अतरंग मे होता है।) अतरग के परिणामों के अनुसार बाह्य क्रियाएँ स्वयमेव सुधरती है। भाव बदलने पर भाषा, भोजन एवं भ्रमण स्वयमेव बदलते जाते है। बाह्य क्रिया के लिए हठ रखना कभी भी योग्य/अनुकूल नही। खींचकर की गई क्रिया धर्म नाम नहीं पाती।

"भो श्रेष्ठवर ! अपने पुण्य परिणामों से पुण्यात्मा आपके घर मे जन्म लेगा – ऐसा जानना-मानना भी व्यवहार है, वास्तविक वस्तुस्थिति नहीं है एवं पच्चे पार्श्वनाथ भगवान की महिमा के कारण अथवा हमारे आशीर्वाद से पुत्र-प्राप्ति मानना भी अज्ञान ही है। क्योंकि परभव में से निकलकर इस भव मे जन्म लेना अपने पुण्य-पाप और योग्यता के अनुसार होता है। यथार्थ वस्तुस्वरूप समझना प्रत्येक व्यक्ति का निजी महत्वपूर्ण कर्तव्य है। ऐसे अपूर्व तत्वज्ञान की प्राप्ति से ही जीव को सुख-शान्ति मिलती है।"

आचार्य श्री जिनचद्र के उपदेश से दोनों के ज्ञान तथा श्रद्धा मे विशेष निर्मलता तथा दृढता आई। वीतराग धर्म के उद्धारक बालक को जन्म देनेवाले माता-पिता पेनगोंडे से घर लौटे। उसी दिन से उनके घर प्रतिदिन पूजा, दान, स्वाध्याय, तत्वचर्चा आदि धार्मिक कार्य पहले से भी अधिक उत्साह से चलने लगे। कालक्रम से शान्तला का गर्भ वृद्धि को प्राप्त हो रहा था।

प्रकृति के नियमानुसार काल व्यतीत हो रहा था। अज्ञानी मनुष्य को महान पुण्योदय से प्राप्त मानवजीवन की कीमत ख्याल मे नहीं आती। पुण्य से प्राप्त परिस्थिति का उपयोग पुण्य वा पवित्र परिणाम के लिए न करके पापमय परिणाम से काल गवाँता रहता है। वर्तमान मानवजीवन अलब्धपूर्व तत्वज्ञान प्राप्ति के लिए नहीं करता, परन्तु भविष्यकाल मे भोग-सामग्री भरपूर प्राप्त हो इसलिए व्यर्थ ही परद्रव्य की प्राप्ति के लिए असफल प्रयत्न करता रहता है। पचेन्द्रिय भोग सामग्री के समागम का मूल कारण पूर्व पुण्योदय ही है। उसके लिए वर्तमान काल मे किया जानेवाला प्रयास पापबध का कारण

है, अज्ञानी यह नहीं जानता। इसलिए भ्रम से अनुकूल-इष्ट परवस्तु के सयोग के लिए परिश्रम करने से निराशा हाथ लगती है और अंत मे मरणकर नाश को प्राप्त होता है।

गर्भस्थ शिशु का पुद्गल पिण्ड क्रमशः वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। मानो लोगो को अपने शुभागमन का शुभ सकेत दे रहा हो। शान्तला के अ ग-अग मे शोभा आ रही थी। सौन्दर्य दिन-प्रतिदिन अपनी अन्तिम सीमा-पर्यन्त पहुँचने का प्रयास कर रहा था। चौथे महीने मे कटिभाग भर जाने से सौन्दर्य मे अपूर्वता आ गई थी! पाचवे माह मे उदर भाग भर जाने से सुन्दरता ने कुछ अलग ही रूप धारण किया था। सर्व शरीर मे नवीनता लक्षित हो रही थी। जल-भरित बादलो के समान उसकी चाल गभीर व मद बन गयी थी। वह गजगामिनी बन गयी थी। जैसे हरा फल पक जाने के बाद पीतवर्ण का हो जाता है उसी प्रकार शान्तला के शरीर का वर्ण पीत हो गया था। प्रारभ से गौर-वर्ण तो था ही। उसकी मुखाकृति का सौन्दर्य देखकर जन्म लेने वाले भव्य पुरुष के उज्ज्वल भविष्य को कोई भी बता सकता था। देखते ही नजर लग जाने योग्य उसका रूप हो गया था।

इस तरह क्रमशः सातवाँ, आठवॉ महीना पूर्ण करके नवमे महीने मे प्रवेश किया।

नगरवासी सौभाग्यवती स्त्रियो ने शान्तलादेवी के लौकिक में करने योग्य सभी सस्कार महान उत्सवपूर्वक किये। शिशु का विकास निर्विघ्न रीति से हो एतदर्थ भी सभी सस्कार किये गये। पुण्यवानो को बाह्य सभी अनुकूलता मिलती ही रहती है। काल अपने क्रम से व्यतीत हो रहा था।

(परन्तु तत्वज्ञानहीन मानव को महा दुर्लभ मनुष्य जीवन व्यर्थ जा रहा है इसकी कुछ परवाह नही होती । भविष्यकालीन भोगाभिलाषा के व्यर्थ मनोरथ मे समय गंवाता है । प्राप्त वर्तमानकालीन अनुकूलता को सार्थक बनाने की बुद्धि नहीं होती । उसकी भावना भी पैदा नहीं होती । आत्महित का विचार किये बिना शरीरादि पर्यायों मे मोहित होकर दुःखी जीवन बिताता है । मै दुःख भोग रहा हूँ इसका भी पता नहीं रहता, आश्चर्य तो इस बात का है।)

उदित होनेवाले उस महापुरुष के आगमन का विश्व के भव्य जीव प्रतीक्षा कर रहे थे । पर उस काल रूपी पुरुष को अवकाश नही था, समय मिलने की सभावना भी नही थी । वह काल रूपी पुरुष रविचद्र के रूप मे रात्रि और दिन को अनमना सा बुन रहा था । काल बीता जा रहा था ।

इस प्रकार बैसाख से आरभ होकर पौष मास बीत गया । शार्वरी सवत्सर का माघ मास प्रारभ हो गया । शुक्लपक्ष की पचमी के बाल भास्कर के उदय के साथ ही वृक्ष पर ही कली फूल बनकर पककर वृक्ष के साथ बना हुआ सयोग-सबध समाप्त होने से डठल से अलग होकर प्रकृति की गोद मे गिरनेवाले फल के समान मगलमय व मगलकरण उस पुण्यात्मा ने भी नव मास के गर्भवास को पूर्ण कर कालक्रम के अनुसार भू-देवी के गोद मे अपनी ऑखे खोलीं ।

उस समय सूर्यप्रकाश की प्रभा मे भी किसी विद्युत समूह के चमकने जैसा आभास हुआ । उस प्रभातकालीन प्रशात समय मे

शीतल सुगधित पवन ने तरू-लताओं के पुष्पों को सग्रहीत करके पुष्प वृष्टि द्वारा आनदोत्सव मनाया। उसी समय काल-पुरुष एक कुल पर्वत पर युगपुरुष के जन्मदिन के रूप मे ई स पूर्व १०८ शार्वरी सवत्सर के माघ शुक्ल की पंचमी को उकेर रहा था।

उस दिन नगर सेठ गुणकीर्ति को अनेक वर्षों के बाद चिर अभिलषित पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। अतः सारे कोण्डकुन्दपुर नगरवासियो ने बडे उत्साह के साथ आनंदोत्सव मनाया। नगर के सभी प्रमुख स्थानों पर ही नहीं गली-गली मे भी तोरण शोभायमान हो रहे थे। नगर के पाचो प्राचीन भव्यजिनमदिरों मे पूजा, भक्ति अति भक्ति भावपूर्वक हो रही थी। मंदिरों में बैठने के लिए जगह नहीं थी और घरो मे तथा रास्तो पर कोई आदनी देखने को भी नहीं मिलता था। दीन-दुखियो के लिए भोजन की व्यवस्था भी की गयी थी।

दस दिनो के बोत जाने पर जन्मोत्सव मनाते हुए शिशु को सुवर्णमय सुन्दर पालने में सुलाकर अनेक सौभाग्यवती स्त्रियों ने मगल गीत गाये। शान्तला माता ने अपने सपने मे चन्द्रमा की चॉदनी देखी थी इसलिए शिशु का नाम पद्मप्रभ रखा गया। जन्मोत्सव के कारण पूरे नगर मे बडे-त्यौहारों की भाति वातावरण नवचैतन्यमय बन गया था। यह आनदोत्सव एक ही घर का मर्यादित नहीं रहा था, लेकिन बहुत व्यापक बन गया था। सेठ गुणकीर्ति ने भी अपने मित्रजनो की अभिलाषाओं की पूर्ति करने मे कोई कसर न छोडकर अपने गुणकीर्ति नाम को सार्थकता प्रदान की थी।

माघ शुक्ल पचमी के दिन जन्मा हुआ बालक दूज के चन्द्रमा के समान प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रहा था। पद्मप्रभ तीन माह का हो गया था। यद्यपि उसकी सेवा-सुश्रूषा, सवर्धन के लिए अनेक धाय-माताओं की व्यवस्था की गयी थी। तथापि माँ शान्तला उसकी व्यवस्था मे सदैव सावधान रहती थी। क्योकि माता को अपने सतान की व्यवस्था मे स्वाभाविक रस होता है। ससार के स्वरूप और ससार परिभ्रमण के कारण से सुपरिचित माता शान्तलादेवी अपने पुत्र को सुसस्कारित करने के लिए सदा जागृत रहती थी। शिशु को पालने मे सुलाते समय सुकोमल मन आध्यात्मिक विचार से प्रभावित हो, इस भव्य विचार से खास अलौकिक लोरियाँ गाती थीं।

प्रथम लोरि

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि।
संसार मायापरिवर्जितोऽसि॥
शरीरभिन्नस्त्यज सर्वचेष्टां।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ १ ॥

ज्ञाताऽसि दृष्टाऽसि परमात्मरूपो।
अखण्डरूपोऽसि गुणालयोऽसि॥

१ हे पुत्र! तुम शुद्ध-बुद्ध-निरजन हो ससार की माया से रहित हो, से भिन्न हो, अतः अन्य सब चेष्टाओं को छोडो और शान्तला के को धारण करो।

जितेन्द्रियस्त्यज मान-मुद्रां ।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ २ ॥

शान्तोऽसि दान्तोऽसि विनाशहीनः ।
सिद्धस्वरूपोऽसि कलकमुक्तः ॥
ज्योतिस्वरूपोऽसि विमुच माया
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ ३ ॥

कोमल-निर्मल बाल मन के ऊपर सर्वोत्तम सस्कार डालने की इच्छुक माता के इस प्रकार के कर्णमधुर एव सबोधनस्वरूप गीत सुनकर वह शिशु कैसे सो सकता था ? सो जाने वाले शिशु को इस प्रकार के अपूर्व-अलौकिक सस्कार डालने के भाव भी किसी को कैसे आ सकते थे ? प्रत्येक जीव के भवितव्यानुसार उसे अन्य जीवो का संयोग स्वयमेव मिलता है । भले इष्ट संयोग मिलाने का जीव कितना भी प्रयास करे । एवं उस जीव के भवितव्यानुसार ही सयोग मे आनेवाले जीवों को संकल्प-विकल्प होते है ।

माता शान्तला की मधुर लोरियाँ सुनकर वह शिशु आँखे बद करके केवली प्रणीत तत्व का मनन-चिन्तन करते हुए गभीर हो जाता

---

२ तुम ज्ञान-दृष्टा और परमात्मस्वरूप हो, अखण्डरूप और गुणों के आलय-निवास स्थान हो, जितेन्द्रिय हो और मानादि सम्पूर्ण कषायों की मुद्रा (अवस्था) का त्याग करो–ऐसे शान्तला माता के वचनों का तुम अनुसरण करो ।

३ हे पुत्र ! तुम शात, आत्म सयमित,अविनाशी, सिद्धस्वरूप, सर्व प्रकार के कलक (मलदोषादि) से रहित और ज्योति स्वरूप हो, ससार की माया को त्याग कर शान्तला माता के वचनों को ग्रहण करो ।

था। बालक की यह बात हमे आश्चर्यकारक तो लगती ही है, लेकिन साथ ही साथ असत्य-सी लग सकती है, क्योंकि तीन महीने का बालक तत्त्वचितन कैसे और क्या करेगा ?

पर हमे भी तो यह सोचना चाहिए कि बाल्यावस्था शरीर की अवस्था है या आत्मा की ? आत्मा अनादिकाल से भी कभी बालक हुआ नही और होगा भी नहीं। जहाँ आत्मा बालक हो नही सकता तो वह वृद्ध भी हो ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, आत्मा को जन्म-मरण भी नही हो सकते। आत्मा तो स्वरूप से अनादि-अनत, एकरूप, ज्ञान का घनपिड और आनन्द का रसकन्द है। जब तक संयोगदृष्टि से वस्तु को देखने का प्रयास चलता रहेगा तब तक वस्तु का मूल स्वभाव-समझकर धर्म प्रगट करने का सच्चा उपाय समझ मे नहीं आ सकता। (जहाँ धर्म प्रगट करने का उपाय ही समझ मे नही आवेगा, वहाँ धर्म-मोक्षमार्ग सुख-शांति समाधान-वीतरागता कैसे प्रगट होगी ?)

एकबार शिशु पद्मप्रभ रोने लगा। धाय ने उसको पालने मे सुलाकर पालना झुलाया। परन्तु शिशु का रोना बद नही हुआ। धाय ने शिशु न रोवे, शाति से सो जाय अथवा खेलता रहे इसलिए विविध प्रयत्न किये, परन्तु सभी विफल गये। अतः माता शान्तला को बुलाया। उसने लोरियाँ सुनाना प्रारभ किया ही था कि, इतने मे बालक स्वयमेव शात हो गया।

द्वितीय लोरी -

एकोऽसि मुक्तोऽसि चिदात्मकोऽसि।
चिद्रूपभावोऽसि चिरन्तनोऽसि ॥

अलक्षभावो जहि देहभावं ।
शान्तालसावाक्युमुपासि पुत्र ॥ १ ॥

निष्कामधामोऽसि विकर्मरूपोऽसि ।
रत्नत्रयात्मकोऽसि परं पवित्रोऽसि ॥
वेत्ताऽसि चेताऽसि विमुंच कामं ।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ २ ॥

प्रमादमुक्तोऽसि सुनिर्मलोऽसि ।
अनंतबोधादि चतुष्टयोऽसि ॥
ब्रह्माऽसि रक्ष स्वचिदात्मरूपं ।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ ३ ॥

शिशु को सोता हुआ जानकर माता लोरी गाना बद करके सो गयी । गाढ निद्राधीन हो गयी । एक घटे के बाद शिशु ने फिर से रोना शुरू किया । धाय ने उठकर शिशु को झुलाया । माता शान्तला

---

१ हे पुत्र तुम एक मुक्त, चैतन्यमय, चिंद्रूप, चिरन्तन (अनादि-अनत), अगम्य (अतीन्द्रिय) हो, देह की एकत्व-ममत्व को छोडकर शान्तला माता के वाक्य का सेवन करो ।

२ तुम निष्काम स्वरूप (सम्पूर्ण इच्छाओं से रहित), कर्मों से मुक्त रत्नत्रयात्मक, परम पवित्र, तत्त्वों के वेत्ता और चेता (ज्ञाता दृष्टा) हो, सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग करो और शान्तला माता के वचनों की आराधना करो ।

३ प्रमाद से रहित, सुनिर्मल, अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयात्मक (अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यस्वरूप), ब्रह्मा (आत्मस्वरूप) हो, अपने चैतन्य स्वरूप की रक्षा करो—ऐसे शातला माता के वचनों को ग्रहण करो ।

के समान उसने भी लोरी गाई, तथापि रोना बन्द नही हुआ, उल्टा रोना तेज हो गया। "निद्रित स्वामिनी शान्तला को जगाना उचित नहीं" ऐसा सोचकर धाय ने अनेक उपायों से पद्मप्रभ को सुलाने का प्रयास किया। लेकिन सभी प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। माता के मुख से मधुर अध्यात्म सुनने की शिशु की इच्छा को धाय कैसे जान सकती थी ?

सामान्यतः बालक हो, युवा हो, प्रौढ़ हो अथवा बुजुर्ग हो, शरीर को ही आत्मा माननेवाले जीव के मानस मे एक मात्र उदर-पूर्ति करना ही मुख्य कर्तव्य हो जाता हे।

जीव भोजन से जीदित रहता है, भोजन के बिना मरण अटल है ऐसी ही विपरीत मान्यता प्रायः सुनने को मिलती है। भोजन से ही जीवन तब माना जा सकता है जब भोजन के अभाव मे मरण हो। प्रतिदिन भरपेट खा-पीकर भी कितने ही प्राणी मरते जा रहे है। भोजन करने से यदि कोई जीता है तो किसी कीडे को भी मरना नही चाहिए, क्योंकि प्रत्येक के अपने योग्य भोजन की सुविधा तो रहती ही है। इसलिए यह विदित होता है कि भोजन के अभाव मे जीव मरता है यह बात नितान्त असत्य है।

इसके बाद स्वामिनी शान्तला को बुलाना अनिवार्य है ऐसा समझकर धाय ने उसे बुलाया। "यह रोना बद ही ·हीं कर रहा है, उसे भूख लगी होगी, दूध पिलाइये।" इसप्रकार धाय ने शान्तला से कहा। गहरी निद्रा से जागृत शान्तला ने शिशु के पार जाकर देखा। प्रिय पद्मप्रभ आँखे खोलकर रो रहा है। यह भूख के कारण नहीं

रो रहा है, ऐसा जानकर अध्यात्मज्ञान से मानो मत्रित करने के लिए ही शान्तला लोरियाँ बोलने लगी।

तृतीय लोरी :-

कैवल्यभावोऽसि निवृत्तयोगो।
निरामयो शान्तसमस्ततत्वः ॥
परमात्मवृत्ति स्मर चित्स्वरूपं।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ १ ॥

चैतन्यरूपोऽसि विमुक्तभारो।
भावादिकर्मोऽसि समग्रवेदी ॥
ध्याय प्रकाम परमात्मरूपं।
शान्तालसावाक्यमुपासि पुत्र ॥ २ ॥

वीणा की कर्णमधुर आवाज सुनकर जैसे सर्प फण उठाकर स्वयमेव सहज आनन्दित होता है, उसी प्रकार शुद्धात्मस्वरूप की अनुपम ध्वनि तरगों को सुनकर वह शिशु अध्यात्मविद्या से मुग्ध हो

---

१ हे पुत्र! तुम कैवल्य भाव से युक्त (केवल ज्ञान-केवलदर्शन सहित अथवा नौ केवललब्धियों से युक्त) हो योगों (मन-वचन-काय) से निवृत्त हो निरामय हो, समस्त तत्वो के वीतरागी ज्ञाता हो, परमात्मस्वरूपी अपने चैतन्य तत्व का स्मरण करो—यह शान्तला माता के वचन हैं हे पुत्र इन की तुम उपासना करो।

२ तुम चैतन्यस्वरूप, भाव-द्रव्य कर्मों के भार से रहित, सर्वज्ञ हो, सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करके शान्तला माता के वचनो का अनुसरण करो।

गया। सर्व शारीरिक चेष्टाये बद हो गई, आँखे मात्र खुली थी। मानो शरीर आदि सर्व परद्रव्यों को भूल गया हो। माता शान्तला भी गीत की विषयवस्तु के साथ तन्मय होकर लोरियॉ प्रभातीराग मे गा रही थी। इस आवाज को सुनकर ही गुणकीर्ति जाग गये और पुत्ररत्न का मुखावलोकन करने के लिए आये। पति के आगमन से शान्तलादेवी की समाधि भग्न हो गयी। उसने हास्यवदन से पति का स्वागत किया। गुणकीर्ति ने भी हॅसते हुए स्वागत को स्वीकार किया और बोले –

"शान्तला! इसप्रकार दिन-रात जागने से शारीरिक स्वास्थ्य का क्या होगा कभी सोचा भी है? बच्चे का थोडा सेवाकार्य धायो को भी करने दो। हरसमय हरकार्य स्वय ही करने की खोटी आदत अब तो थोडी कम करो।"

"नाथ! तीन दिनों से लाडला पद्मप्रभ न मुझे सोने देता है और न स्वय सोता है। धायो के अनेक प्रकार के विशेष प्रयत्न के बावजूद भी यह शान्त भी नही होता, नींद लेने की बात तो बहुत दूर। किसी अच्छे वैद्य को दिखाकर सलाह लेना आवश्यक है। मुझे चिन्ता हो रही है।"

"ठीक है, शान्तला! अभी तो यह सो रहा है, सूर्योदय होने दो। नित्यकर्म-स्नानादि से निवृत्त होकर पूजन-स्वाध्याय करके मै वैद्यराज को बुलाऊँगा, निश्चित रहो। सब ठीक हो जायगा।" ऐसा कहकर गुणकीर्ति वहॉ से चले गये। शान्तला भी अन्य गृह-कार्य मे लग गयी। धाय किसी बात का भी कुछ अर्थ न समझ पाई व दोनो का कथन सुनते हुए मन्त्रमुग्ध-सी वही खडी रही।

स्वाध्याय व तत्वचर्चा के बाद गुणकीर्ति ने चार वैद्यो को बुलाया वे चारो ही वैद्य वैद्यक-व्यवसाय मे अनुभवी, लोक मे प्रसिद्ध, सबके श्रद्धा-पात्र और महामेधावी थे। इनको ज्योतिषज्ञान भी था। इन चारो वैद्यो ने बालक का आरोग्यविषयक पूरा तथा सूक्ष्म परीक्षण अपनी-अपनी बुद्धि व पूर्वानुभव के अनुसार किया, आपस मे देरतक चर्चा भी की। और अन्त मे निर्णयात्मक रीति से सेठजी से कहा –

"आदरणीय नगरसेठ! इस भाग्यवान बालक मे शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से कोई न्यूनता-कमी नहीं है। रोग होने का तो प्रश्न ही नही है। शरीर पूर्ण स्वस्थ है। इस बालक को कुछ तकलीफ भी नही है। इसे नींद बहुत कम आती है–बहुत कम समय सोता है ऐसी आपकी खास शिकायत है। आपका कहना तो बिलकुल सही है। बुद्धि की विशेष तीक्ष्णता के कारण उसे नींद कम आना स्वाभाविक ही है। इसकारण आपको चिन्ता करने की कुछ आवश्यकता नहीं है। अल्प निद्रा के कारण बालक के स्वास्थ्य पर किंचित्मात्र भी अनिष्ट परिणाम नही है। इस उमर मे अब वह जितना सोता है उतनी नींद उसे पर्याप्त है। आठ प्रहर मे एक अथवा डेढ प्रहर सोयेगा तो भी बहुत है। आप निश्चित रहिएगा।"

भो श्रेष्ठीवर! इस भूमण्डल पर आप जैसा भाग्यशाली और कोई दिखाई नही देता। वैद्यक शास्त्र की रचना काल से लेकर अभी तक इस प्रकार की विचक्षण बुद्धिवाला जीव नहीं जन्मा है। इस प्रकार असामान्य बुद्धिमान शिशु को जन्म देकर आपने विश्व पर महान उपकार किया है। इस बालक के उपकार का स्मरण विश्व "यावत्‌चद्र दिवाकरौ" तक रखेगा। इस लोकोत्तर महापुरुष का

बाल जीवन देखकर भी हमारा जीवन धन्य हो गया —कृतार्थ हो गया। बडे हो जाने के बाद की बुद्धि-प्रगल्भता के स्मरणमात्र से भी हमारा ह्रदय रोमाचित हो उठता है। इसकी वाणी को प्रत्यक्ष सुनने का सौभाग्य जिन्हे प्राप्त होगा, वे धन्य होगे।

नगरसेठ! जीवन की अन्तिम बेला मे प्रज्ञाहीन होने पर भी यदि इस महापुरुष का एक वाक्य सुनने को मिल जाये तो वह हमारा भाग्य होगा। आज हमे जो आपने यहाँ बुलाया है, उसके लिए वह अलौकिक शब्दामृत ही हमारा पारिश्रमिक समझो। अभी हमारा यह पारिश्रमिक आपके पास ही धरोहर रूप मे रहे ऐसा कहकर बालक के चरणो का अति नम्रता और भक्तिपूर्वक वदन करके-मस्तक झुकाकर चारों वैद्यराज वहाँ से चले गये।

कुछ ही दिनो बाद प्रिय पद्मप्रभ विषयक आनददायक यह समाचार गाव-गाव मे, नगर-नगर मे पुरजन-परिजन मे फैल गया। पेनगोंडे और जिनकची मुनिसघ मे भी इस सुखद समाचार को कुछ सज्जनों ने स्वयमेव पहुँचाया। श्रेष्ठीपुत्र की असामान्य बुद्धि की चर्चा ही साधारण जन मानस का एकमेव विषय बन चुकी थी। वन की अग्नि के समान यह चर्चा भी सर्वत्र फैल गयी।

पेनगोडे के आचार्य जिनचद्र को इस बालक के सबध मे पहले से ही पर्याप्त जानकारी थी, जिनकची के आचार्य पुंगव अनतवीर्य को पद्मप्रभ बालक रत्न का सुखद समाचार प्रथम ही सुनने को मिला। श्री अनतवीर्य आचार्य महामेधावी व अष्टागनिमित्तज्ञानी थे। दक्षिण भारत मे आपका विशेष प्रभाव एव प्रसिद्धि थी। वे अपने निमित्त ज्ञान से बालक के भूत-भविष्य को विस्तारपूर्वक जानकर विशेष प्रभावित हुए। कहा भी है —

"गुणी च गुणरागी च सरलो विरलो जनः"। अर्थात् स्वयं गुणवान होते हुए गुणी जनों के संबध मे प्रमोद व्यक्त करनेवाले ऐसे सरल लोग बहुत विरल होते है। देखो ! वीतरागी महामुनिश्वरों को भी पद्मप्रभविषयक राग उत्पन्न होता था, ऐसा था वह बालकरत्न।

उन्होने सोचा-इस प्रकार के अनुपम बुद्धिधारक बालक को अपने सघ मे बुलाकर अपने सानिध्य मे योग्य समय पर धर्म-शिक्षण देना चाहिए। फिर मुनिसघ के नायक-आचार्य पद पर विराजमान करना चाहिए। इससे समाज को विशेष धर्मलाभ होगा। परन्तु पेनगोडे सघ के आचार्य जिनचद्र महाराज का और गुणकीर्ति का परिचय पहले से ही पर्याप्त है, अतः यह बालक रत्न अपने सघ को मिलना कठिन ही लगता है। तथापि इस वर्षायोग की समाप्ति के बाद कोण्डकुन्दपुरनगर की दिशा मे विहार करना ठीक रहेगा।

क्रमनियमित पर्याय मे जो होनेवाला है वही होगा। अपनी इच्छा के अनुसार वस्तु मे परिवर्तन करने का सामर्थ्य किसी आत्मा अथवा अन्य पदार्थ मे है ही नहीं। अज्ञानी तो मात्र विकल्प (राग-द्वेष) करता है। प्रत्येक पदार्थ की परिणति (बदल, अवस्था, परिवर्तन) अपने-अपने स्वभाव के अनुसार स्वयमेव होती रहती है। यह तो अनादिनिधन वस्तुस्वभाव है। (इस विश्व मे कौन किसका नाश कर सकता है ? कौन किसको सुरक्षित रख सकता है ? कौन धर्म की अभिवृद्धि करेगा ?) सर्व पदार्थ सर्वत्र सर्वदा स्वतंत्र है। परन्तु वस्तु स्वातत्र्य का बोध नही होने से अज्ञानी, आत्मा को अकर्त्ता-ज्ञाता-स्वभावी नही जानता-मानता। आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी मानना

ही मूल सिद्धान्त है और जीवन मे सुखी होने का भी यही महामत्र है। इसे जाने बिना जीव का उद्धार होना सभव नही-कल्याण भी नहीं।

दिन-रात बीतते ही जा रहे थे । बालक पद्मप्रभ तीन वर्ष का हो चुका था । वह छोटे-छोटे कदम रखता हुआ घर-भर मे इधर से उधर और उधर से इधर दिनभर दौडता था । तुतलाता हुआ गभीर तत्त्व की बात करता हुआ सभी को आश्चर्य-चकित कर देता था ।

माँ शान्तला भी उसे अपनी गोद मे बिठाकर पचारितकाय, छह द्रव्य, साततत्त्व, नवपदार्थ का ज्ञान कराती थी । विषय को समझने की जिज्ञासा जानकर यथायोग्य-यथाशक्य उनके स्वरूप का भी निरूपण करती थी । इस प्रकार पचास्तिकाय, छहद्रव्य, सात तत्व, नवपदार्थ का प्राथमिक ज्ञान तो बालक पद्मप्रभ ने माँ की गोद मे ही प्राप्त कर लिया ।

तदनन्तर उसे अक्षर ज्ञान देना प्रारभ हुआ । वह कण्ठस्थ पद्य को स्मरण करने के समान किसी भी विषय को सुलभता से ग्रहण कर लेता था । किसी कठिनतर विषय को भी एक बार कहने से उसे उसका ज्ञान हो जाता था । एक ही बार कहे गये विषय के सम्बन्ध मे प्रश्न करने मे प्रश्नकर्त्ता को भी सकोच होता था । लेकिन वह बालक निःसकोच उत्तर दे देता था ।

दिन बीतते ही जा रहे थे । बालक की बुद्धि भी दिन-प्रतिदिन प्रौढ होती जा रही थी । इसलिए पठन-पाठन भी स्वाभाविक बढता गया । घर ही विद्यालय बन गया । प्रौढ, गम्भीर और दक्ष दो विद्वान अध्यापक न्याय, छन्द आदि विषयो को पढाते थे । साथ ही साथ

तमिल, कन्नड, प्राकृत, सस्कृत भाषाविद् भी प्रतिदिन अर्धप्रहर के कालाश क्रम से उस-उस भाषा शास्त्र को पढाते थे । माता-पिता द्वारा धार्मिक सस्कार भी अखण्ड रीति से मिलते ही रहते थे ।

इसीबीच जिनकची सघ के ज्ञानवृद्ध एव वयोवृद्ध आचार्य पुगव अनतकीर्ति महाराज पेनगोंडे सघ के आचार्य श्री जिनचद्र के साथ बिहार करते-करते कोण्डकुन्दपुर नगर के समीप आ गये । ये दोनों निर्ग्रन्थ मुनिराज श्रेष्ठीपुत्र के तीव्रतर बुद्धि, विशेष स्मरण शक्ति व कल्पना चातुर्य पर मुग्ध थे । प्रतिदिन किसी न किसी बहाने से होनहार पद्मप्रभ को अपने पास बुलाते थे और प्रश्न पूछा करते थे और उत्तर पाकर प्रभावित होते थे । वयोवृद्ध अनतवीर्य मुनिराज अपने उपदेश मे विश्व के सकल चराचार पदार्थों का स्वरूप, धर्माधर्म का स्वरूप, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, आत्मस्वरूप और स्व-पर कर्तृत्व की परिभाषा इत्यादि सूक्ष्म विषयों का विवेचन करते थे । पद्मप्रभ की पात्रता बढे ऐसा प्रयास भी करते थे । बालक की ग्रहण शक्ति को देखकर उसे उत्साहित करते थे । बालक को छोडकर जाने के लिये उनका मन नहीं होता था । इस को साथ ले जाने का विचार प्रगट न करते हुए भी धर्ममय वात्सल्य भाव से क्वचित्-कदाचित् विचारमग्न भी हो जाते थे । अन्त मे अपनी मुनि-अवस्था का और वीतराग धर्म के यथार्थ स्वरूप का स्मरण कर उन्होने वहाँ से अन्यत्र विहार कर ही दिया ।

प्रस्थान प्रसग पर अकस्मात् ही जनसमूह जुड गया । वह महामुनियो के साथ दूरपर्यंत चला जा रहा था । उनमे से मात्र गुणकीर्ति को बुलाकर उनसे कुछ कहकर आगे विहार कर गये ।

बाद मे उन्होने पीछे मुडकर भी नहीं देखा। सेठ गुणकीर्ति कुछ क्षण तो गभीर तथा स्थिर हो गये। बाद मे नगर की ओर वापिस आ गये।

बालक पद्मप्रभ दस वर्ष पूर्ण करके ग्यारहवे वर्ष मे पदार्पण कर रहा था। इस दशकपूर्ति के उत्सव को अर्थात् जन्म-दिवस की दसवीं वर्षगाठ को बडी धूमधाम से मनाने का निर्णय सेठ गुणकीर्ति और माता शान्तला ने किया। तीन दिन का कार्यक्रम निश्चित करके उसमे नित्य पूजन, नैमित्तिक पचपरमेष्ठी विधान, चतुर्विध सघ को आहारदान, शास्त्रदान, तत्त्वचर्चा, धर्मगोष्ठी आदि कार्यक्रम निश्चित किए। कार्यक्रम पत्रिका तैयार करके ग्राम ग्राम तथा नगर-नगर मे निमन्त्रण पत्र भेज दिये। पेनगोंडे और जिनकची सघ मे भी जाकर भक्तजनों ने इस धार्मिक कार्यक्रम का ज्ञान कराया। नगर के बडे मदिर के सामने विशाल मैदान मे भव्य मच का निर्माण किया गया। दूर-दूर के प्रदेशो के लोग तो आ ही गये, इतना ही नहीं, सुदूर प्रदेश के दिग्गज विद्वानो ने भी इस कार्यक्रम मे भाग लिया। श्रेष्ठी दम्पत्ति ने खर्च और व्यवस्था करने मे कोई कसर नहीं छोडी। अतः बालक का जन्मोत्सव "न भृतो न भविष्यति"—ऐसा मनाया गया।

उस जन्मोत्सव ने किस-किस पर क्या-क्या और कैसा-कैसा प्रभाव डाला यह देखना अनावश्यक है। परन्तु जिस भावी महापुरुष का यह जन्मोत्सव था उस पर हुए प्रभाव को देखना-जानना अत्यन्त आवश्यक है।

जगत के तत्त्वज्ञानरहित सामान्यजन अनादिकाल से बहिर्मुखी पचेन्द्रियो के द्वारा बहिर्मुखी वृत्ति का ही अवलम्बन करते आये है और कर रहे है। उन्हे सच्चे सुख का मार्ग समझ मे नहीं आता और

उनका उस दिशा मे कुछ भी प्रयास नहीं रहता। आजकल हम-आप भी अपने बालको का जन्मदिन मनाते है, परन्तु जन्म दिन मनाने मे कौन-सी गम्भीर बात-मर्म छिपी है—क्या हमने इसके सबध मे थोडा सा भी कभी विचार किया ? विचार किया होता तो ऐसे अज्ञानमय कार्य हम कभी नही करते। आपके मन मे प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या जन्म दिन मनाना अज्ञानमयकार्य है ? इस विषय मे हमे कुछ सोचना जरूरी है।

हम किसका जन्म-दिन मना रहे है ? चैतन्यस्वरूपी आत्मा का अथवा चैतन्यरहित-जड़ पुद्‌गलमय शरीर का ? प्रथम हम यह देखे-सोचे कि चैतन्यस्वरूपी आत्मा के जन्म-मरण होते है या नही? आत्मा के जन्म-मरण नही होते, क्योकि आत्मा अनादि अनंत है, फिर उसे जन्म-मरण कैसे ? अतः हम जड-पुद्‌गलस्वरूपी शरीर का ही जन्म दिन मनाते है, यह निश्चित हुआ।

ज्ञानशून्य, रक्त-रुधिरादि एवम् स्पर्शादि गुणों सहित, जिस शरीर का आत्मा के साथ अतिम सयोग हो-और अशरीरी पद की साधना की जावे, ऐसे शरीर का गौरव, सत्कार, सन्मान, बहुमान करना चाहिए अर्थात् जन्मदिन मनाना चाहिए।

तात्त्विक दृष्टिवालो के विचार नियम से उदार, उदात्त, सुखस्वरूप व सुखदायक ही होते है - हमारे द्वार। स्वीकृत पदार्थ अच्छा हो या बुरा, उसको छोडते समय उसकी निंदा न करके सम्मान देकर छोड देना चाहिए। दुनिया मे भी सामान्य लोगो मे यह रूढि है कि सज्जनो की सगति धन खर्च करके करना चाहिए और दुर्जनो की संगति दुर्जन को धन देकर सदैव के लिए छोड़नी चाहिए।

"अनादिकाल से इस ससारी दुःखी आत्मा के साथ जड शरीर का सयोग रहा है। अतः यह आत्मा जन्म-मरणरूप असह्य दुःख परम्परा को भोग रहा है। आज उसी जड-पुद्गलमय शरीर मे वास करते हुए **अपने अनादि अनन्त, सुखमय शुद्धात्मा को जानकर पचपरिवर्तनरूप ससार समुद्र से सहज रीति से सदा के लिए छूट रहा है-अनत काल के लिए सुखी हो रहा है।** इसलिए अतिम शरीर का सम्मान करना हम सज्जनों के लिए वास्तविक शोभादायक है।"

परन्तु जो शरीर आत्मा के सहज शुद्ध स्वरूप को समझने मे सहायक नहीं है, उल्टा बाधक है, अतः जो दुःख परम्परा का जनक-उत्पादक है, उसका गौरव, सन्मान करने मे कौन-सी बुद्धिमानी है ? सार्थकता भी कैसी ? उन्मार्ग और अधोगति मे ले जानेवाले शरीर का यदि (जन्मोत्सव मनाकर) सन्मान-गौरव करते है तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमें उन्मार्ग और दुर्गति इष्ट है—यह तो दुःखदायी दुर्जन का अभिनदन हुआ ।

जो शरीर, ससार बन्धन-रूप दुःखों से छुडाकर मोक्ष मे पहुँचाने मे सहायता करता है-निमित्त बनता है, उस अतिम शरीर विषयक कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए जन्म-दिन महोत्सव-जन्मजयन्ती मनाना सार्थक है । इसलिए कब, किस शरीर का और कैसा जन्म-दिन मनाना चाहिए इस सबधी मर्म समझना बहुत महत्वपूर्ण है । जन्म-दिन मनाने के पीछे कौन-सा उदात्त ध्येय है यह जानना-सोचना जरूरी है । इस प्रकार धर्म के मर्म को न जानकर केवल अन्धानुकरण करते हुए धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करके अनत ससार की वृद्धि नहीं करनी चाहिए ।

जन्म-दिन के महोत्सव से श्रेष्ठीपुत्र पद्मप्रभ उत्स.हित होने के बजाय गभीर होता जा रहा था, यह उचित ही था। लोग जन्मोत्सव के अर्थ को न जानकर भी उसे मनाते है, इससे बालक को अत्यन्त खेद हो रहा था। "माता-पिता दोनो जन्म-जयन्ती मनाकर मुझे अशरीरी-मुक्त होने के लिए मानो प्रेरणा दे रहे हैं-उत्साहित कर रहे है तो मैं मुक्तिमार्ग को सहर्ष स्वीकार क्यो न करूँ ? ऐसे तीव्र वैराग्य के विचार मन मे पुनः पुनः उत्पन्न हो रहे थे।

"माँ ने तो मुझे पालने मे अध्यात्म के मुक्ति प्रदायक सस्कार दिये है, जो कि अमिट हैं।

सिद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरजनोऽसि ।
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ॥

इस तरह मुझे मेरे शुद्धात्मस्वरूप का ज्ञान कराकर मेरे ऊपर माँ ने महान उपकार किया है। अपने बालको के सुकोमल, निर्दोष और पवित्र मन पर बचपन मे प्रारभ से ही **सदाचार व मुक्तिमार्ग के संस्कार डालनेवाले ही सच्चे माता-पिता है**। ऐसे विवेकी, दूरदर्शी व धार्मिक माता-पिता के कारण ही बालको का दुर्लभ मानव जन्म सफल तथा धन्य बनता है। इन्होंने तो मुझे विवाहादि ससार के माया-जाल मे उलझने के पहले ही सावधान किया है, मुझे अपने वास्तविक कर्तव्य का बोध दिया है। अतः मेरी यह भावना है कि ये माता-पिता मेरे अतिम माता-पिता न बन सके तो कम से कम उपान्त्य (अतिम के पहले वाला) माता-पिता तो बने। मै तो पुनः किसी को माता-पिता बनाना चाहता ही नही।

मैने अनादिकाल से अनेक जीवों को माता-पिता बनाकर उनको रुलाया, कष्ट दिया और उनके माध्यम से मानो भिखारी वृत्ति से परपदार्थों का दास बनता रहा । जन्म-मरणादि दुःखो से सत्रस्त होता रहा । **यह प्राप्त दुःख-परम्परा मेरे अज्ञान का ही फल है । इस दुःख की जिम्मेदारी और किसी की नहीं । मेरे अज्ञान को मुझे स्वयमेव छोड़ना होगा,** यही सुखी होने का तथा आत्महित का एकमात्र उपाय है । अनत सिद्धो ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन लिया था ।

कोई भी माता-पिता अपने पुत्र को तपोवन मे हँसते-हँसते नहीं भेजते; तथापि ये मेरे माता-पिता आदर्श हैं । मेरे वास्तविक तथा शाश्वत हित के इच्छुक है । मेरे तपोवन मे जाने से इनको तात्कालिक दुःख तो होगा लेकिन-इस प्रकार विचारपूर्वक निर्णय करके ग्यारहवे वर्ष मे पदार्पण करनेवाले पद्मप्रभ ने मुनिपद मे पदार्पण करने का विचार माता-पिताजी के सामने दृढतापूर्वक रखा ।

पुत्र के विचारो को सुनते ही माता-पिता के मन मे भयप्रद धक्का लगा । यह बालक इतनी छोटी आयु मे ही ऐसा अतिकठोर निर्णय लेगा; यह उन्होने स्वप्न मे भी नही सोचा था । अति दीर्धकाल के बाद पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा पूर्ण हुई थी । उसका वियोग सहन करने के लिए उनका मन तैयार नही हुआ । माता शान्तला ने अति करुण स्वर मे भयभीत होते हुए कहा –

“प्रिय पुत्र ! इस बाल्यावस्था-अल्पवय मे किसी भी तीर्थंकर महापुरुष ने सन्यास धारण नहीं किया ।”

"माँ ! आप किसकी आयु गिन रही है ? आयु आत्मा की होती है या मनुष्य पर्याय की ? मनुष्य अवस्था की अपेक्षा से विचार किया जाय तो भी आठवर्ष के बाद केवलज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य मनुष्य अवस्था मे है-ऐसा शास्त्र का वचन है । ऐसी स्थिति मे मै छोटा हूँ क्या ? **आत्मसिद्धि एवम् किसी भी धार्मिक कार्य के लिए ही तीर्थंकरादि महापुरुषों के आदर्श का अवलोकन किया जाता है, अन्य विषय-कषायादि पोषण के लिए नहीं ।"**

"आचार्य अनतवीर्य महामुनीश्वर के द्वारा उस दिन बताया गया भविष्य साकार हो रहा है पुत्र !"

"इसीलिए हे तात ! मै कहता हूँ भविष्य का तिरस्कार करना-उस को नकारना पुरुषार्थ नहीं है !"

"पुत्र ! तुम्हारे वियोग के विचार से असह्य दुःख हो रहा है, फिर प्रत्यक्ष मे वियोग हो जाने पर . ...　...."

"यह दुःख शाश्वत नहीं है माँ ! आप दोनो के उदात्त मन की स्वाभाविक उदारता को मै जानता हूँ । आप मुझे हँसते-हँसते विदा करे !"

"विरह की वेदना असह्य है, पुत्र !"

" क्षमा करो माँ ! विरक्ति के विशाल मैदान मे स्थित भगवान मुझे अपने साथ रहने के लिए पुकार रहे है । मै उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता !"

पद्मप्रभ की आतरिक ध्वनि मे दृढ निश्चय था ।

"प्रिय पुत्र ! यह घर तुम्हारे जाने से आज ही कातिविहीन हो जायगा !"

–इस प्रकार गद्गद् कण्ठ से कहती हुई माँ शान्तलादेवी मोहवश वरबस रो पडी ।

" बस करो माँ ! अब छोड दो । मोह की वशवर्तिनी बनकर अपनी उदात्तता छोडना अच्छा नहीं लगता, शोभादायक भी नहीं लगता।आप दोनो ने ही तो मुझे वस्तुस्वरूप का और शुद्धात्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान देकर महान उपकार किया है, उसको मै जीवनपर्यंत नहीं भूलूँगा ।"

"ठीक है पुत्र ! जाओ तुम्हारा कल्याण हो ।"

"पूज्य माताजी-पिताजी मै नमस्कार करता हूँ । आशीर्वाद दीजिए ।"

"शुद्धात्मस्वभाव के अनुभव द्वारा कर्मो को जीतकर भव से रहित हो जाना । जब तक सूर्य-चन्द्रमा रहेगे तब तक विश्व तुम्हारा स्मरण करता रहे ।" इस प्रकार दोनों ने हृदय के अतस्थल से अपने हृदय के टुकडे प्रिय पुत्र पद्मप्रभ को विदा देते समय अन्तिम हार्दिक आशीर्वाद दिया ।"

उस वैराग्यसपन्न बालक ने वहाँ से दिगम्बर दीक्षा लेने हेतु प्रस्थान किया । सेठ गुणकीर्ति और माता शान्तलादेवी-दोनों न जाने कितने समय तक वहीं अचल-अबोल खडे रहे, पद्मप्रभ की पीठ को अश्रुपूरित नेत्रो से देखते रहे ।

सुकोमल शरीरधारी वैश्यपुत्र ने अभी ग्यारह वर्ष भी पूरे नहीं किये थे, परन्तु बाल्यावस्था मे ही आत्मा की अतर्ध्वनि सुनकर ससारोत्पादक तीन शल्यों से रहित होकर और माता-पिता के करुण क्रदन से भी विचलित न होकर, घर छोडकर वह चल दिया । वह

दीक्षार्थी अनेक ग्राम नगर, वन-उपवनो को लाघकर भ्रमण करता हुआ दक्षिण देशा के नीलगिरि-पर्वत पर पहुँच गया। वहाँ विराजमान मुनिराज[१] से यथाजातरूप दिगम्बर जैन साधु की दीक्षा धारण की। दीक्षा के बाद गुरु ने उनके घर के पद्मप्रभ नाम को ही थोडा बदलकर उन्हे 'पद्मनदि' यह नाम दिया। उस दिन से ही पद्मप्रभ पद्मनदि नाम से प्रसिद्ध हुए।

मुनि पद्मनदि दिगम्बर जैन साधु ने असख्यात तीर्थंकर तथा अनत महामुनीश्वरो द्वारा प्रतिपादित सनातन, यथार्थ धर्ममार्ग को स्वीकार किया। एक मात्र स्वात्मकल्याण ही जीवन का सर्वस्व बनाया था। मात्र आत्महित के लिए ही स्वीकृत दीक्षा को अतर्बाह्य दृष्टि से यथासभव निर्मल, उदात्त, यथार्थ और सर्वोत्कृष्ट बनाने के लिए ही वे केवल मनन-चितन ही नही करते अपितु प्रत्यक्ष मे अपूर्व पुरुषार्थ भी करते थे।

बाल्यावस्था मे यथाजातरूप मुनि धर्म धारण करके पद्मनदि मुनि महाराज अपने गुरू के आदेशानुसार कुछ मुनिजनों के साथ सर्वत्र विहार करते थे। अनेक राजा, महाराजा, राजकुमार, राजश्रेष्ठी, श्रावक-श्राविका और वृद्ध मुनि महाराज भी उनका सदा सहृदय सन्मान करते थे। परन्तु पद्मनदि मुनिराज का किसी पर राग-द्वेष नहीं था। वे तो समदर्शी महाश्रमण बन चुके थे।

(सिद्ध परमेष्ठी अनत सुखादि सम्पन्न सर्वोत्कृष्ट भगवान हैं। वे ससारी जीवो के लिए साध्यरूप आत्मा है। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सर्वोत्तम-पूर्ण सुख पद के (सिद्ध दशा के) साधक है।

---

१ ई स पूर्व ६७ दीक्षादायक गुरू का कोई निश्चित नाम नहीं मिलता।

अरहंत-सिद्ध और आचार्य, उपाध्याय, साधु इनमे अंतर मात्र पूर्णता और अपूर्णता की अपेक्षा है। अरहंत-सिद्ध परमेष्ठी स्वशुद्धात्मा का अवलंबन पूर्णरूप से लेते है और आचार्य, उपाध्याय, साधु आंशिकरूप से लेते है, परन्तु लेते है सभी मात्र शुद्धात्मा का ही अवलम्बन। ध्यान के लिए ध्येयरूप से बना हुआ स्वशुद्धात्मा प्रत्येक का भिन्न-भिन्न होने पर भी शुद्धात्मा के स्वरूप मे किंचित् मात्र भी अन्तर नहीं। एव पच परमेष्ठी को प्राप्त होनेवाला वीतरागमय आनददायक स्वाद भी सभी को एक ही जाति का मिलता है। भले ही भूमिकानुसार स्वाद की मात्रा मे अतर हो।

पचपरमेष्ठियो मे तीन परमेष्ठी रूप (आचार्य, उपाध्याय, साधु) मुनिधर्म शुद्धोपयोगमय है। शुद्धोपयोग मे स्वशुद्धात्मा के शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है। यह अनुभव आनदमय है और यही धर्म है। शुद्धोपयोग मुनिराज को करना पडता है, ऐसा नहीं है; क्योंकि जैसे श्वासोच्छ्वास मनुष्यशरीर का स्वाभाविक कार्य है वैसे ही मुनि जीवन में शुद्धोपयोग स्वाभाविक रूप से होता है। सक्षेप मे कहे तो **शुद्धोपयोग, शुद्धपरिणति, वीतरागता, समताभाव, सवर-निर्जरारुप सुखमय परिणाम, आंशिक मोक्ष का नाम ही मुनिधर्म है।**

मुनिधर्म मे अमुक अमुक क्रियाये एवम् व्रतादि करना चाहिए ऐसा कथन व्यवहारनय से शास्त्रों मे आता है, तथापि कोई भी धार्मिक क्रियाये हठपूर्वक करना मुनिधर्म मे स्वीकृत नहीं। **जो आत्मा की सतत साधना-आराधना एवम् आश्रय करता है, वही साधु है।** ऐसा वह आत्मसाधक निर्विघ्न आत्म-साधना के लिए वन-जगल मे ही वास करता है।

इतना ही नही, अहिंसादि पाँच महाव्रत, ईर्यादि पॉच समिति, पचेन्द्रियनिग्रह, केशलोच, षडावश्यक क्रिया, नग्नता, अस्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खडे होकर आहार लेना, दिन मे एकबार भोजन इन अट्ठाईस मूलगुणो का निर्दोष पालन भी मुनीश्वरो के जीवन मे अनिवार्य रूप से होता ही है।

इन अट्ठाईस मूलगुणों के अतिरिक्त साधुओं को उत्तरगुणो का अनशनादि बाह्याभ्यतर तपों का भी पालन दृढता पूर्वक करना चाहिए। इस प्रकार का श्रमणधर्म जिनेन्द्र भगवान ने कहा है, ऐसा उपदेश पद्मनदि मुनि महाराज साधु और श्रावको को देते थे।

महाहिंसक पशुओं के निवास स्थान गिरि-कन्दराओं में, भयानक श्मशान भूमि मे ध्यान लगाते थे। और शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करते थे। मुख्यरूप से तो अपने चिदानन्दघन शुद्धात्मस्वरूप मे निमग्न रहते हुए अनुपम आनन्द का अनुभव करते थे। साधु की षडावश्यक क्रियाओं मे सहज प्रवृत्ति रहते हुए भी आत्मस्थिरता द्वारा वीतरागता बढ़े,इस भावना से निर्बाध स्थान मे-एकात मे विशेष आत्मसाधना करके अपूर्व समता-रस का पान करते थे। और उनके अमृतमय वचनों से जिज्ञासु धर्म-लोभी याचकजन भी लाभान्वित होते थे।

साधु जब गुप्तिरूप विशेष धर्म-कार्य मे सलग्न नहीं होते तब सावधानीपूर्वक समिति मे प्रवृत्ति करते है। समिति मे सावधान रहते हुए भी बाह्य मे किसी जीव का घात हो जाय तो भी प्रमाद के अभाव से हिसक नही माना जाता। मात्र द्रव्य हिंसा हिंसा नहीं है। परन्तु असावधान पूर्वक प्रवृत्ति अर्थात् जीवन प्रमादसहित बनने से रागादि

विकारी परिणामो के सद्भाव से प्राणो का घात नहीं होने पर भी प्रमादी जीव हिसक-विराधक सिद्ध होते है । शुद्धात्मसाधना मे सावधान साधक रागादि विकारों से रजित नही होते । पानी मे डूबे कमल की तरह साधक कर्मबन्धनो से निर्लिप्त रहता हैं । शुद्धोपयोग-शुद्धपरिणतिरूप वीतराग परिणामस्वरूप अहिंसा से साधक का जीवन अलौकिक होता है । इस प्रकार धर्म का वास्तविक स्वरूप समझकर मुनिजन अलौकिक आनन्द के साथ जीवन-यापन करते है ।

केवल कठोर व्रताचरण और कायक्लेश से धर्म नही होता । धार्मिक मनुष्य के जीवन मे कठोर व्रताचरण और कायक्लेश पाये जाते है, यह बात सत्य है । वे धर्म के मात्र बाह्याग हे । अतरग मे **त्रिकाली शुद्ध स्वभावी ज्ञायक आत्मा का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्ररूप वास्तविक धर्म होता है । अन्तरंग धर्म के साथ बाह्य व्रतादिरूप धर्म ही ज्ञानियों को मान्य रहता है ।**

परपदार्थविषयक रागद्वेष के कारण नित्य सुखस्वभावी आत्मा सतत दुःखी हो रहा है । दुर्लभ मानव पर्याय प्राप्त करके भी परमात्मा (सुखी आत्मा) बनने के उपाय का अवलम्बन न करने से जीवन व्यर्थ जा रहा है । अनमोल जीवन कौडी मोल का बन रहा है । जो परमात्मस्वरूपी अपने आत्मा की उपासना-आराधना करता है, उसका जीवन सार्थक है, धन्य है ।।

दीक्षाग्रहण के बाद अखण्डरूप से तेतीस वर्षों तक निज स्वभाव की साधना मे निरत मुनिराज पद्मनदि ने स्वानुभव प्रत्यक्ष से उत्पन्न सच्चे सुख को भोगते हुए दक्षिण और उत्तर भारत मे मगल विहार

किया । विहार मे संज्वलन कषायाश के ८.अ उदय से सघस्थ साधुजनो को और वनजगल मे दर्शन निमित्त आये हुए श्रावक-श्राविकाओं को भी यथार्थ तत्वोपदेश तथा धर्मोपदेश भी देते थे । उनका सुमधुर, प्रभावी, भवतापनाशक तथा यथार्थ उपदेश सुनकर और निर्मल, निराबाध, परिशुद्ध आचरण प्रत्यक्ष देखकर सम्पूर्ण भारतदेश का श्रमण समूह भी उनसे विशेष प्रभावित होता था । और उनकी मन ही मन मे हार्दिक प्रशसा करता रहता था ।

उठे तो आत्मा, बैठे तो आत्मा और जिनके हृदय का परिस्पदन भी आत्मामय हो गया था, उस श्रमण-कुल तिलक मुनिपुगव को देखकर वेषधारी साधुओं के हृदय मे भय से कम्पन होता था । और अपने इस भय-कम्प को वे सामान्यजनो से छिपा भी नहीं पाते थे । इसतरह वे पद्मनदिमुनिराज परम वीतराग सत्यधर्म की साकार मूर्ति ही बन गये थे । श्रमण परम्परा के सर्वश्रेष्ठ साधक समता परिणाम के कारण सबके मन मे समान रीति से श्लाघ्य हो गये थे। ऐसे मुनिपुगव पद्मनदि को मुनि, अर्जिका, श्रावक, श्राविका चतुःसघ ने ई स पूर्व ६४ मे आचार्य पद पर सोत्साह प्रतिष्ठित किया[1] और

---

१ प्रो हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दिसघ की पट्टावली के आधार से यह ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव विक्रम सवत् ४६ मार्गशीर्ष बदी अष्टमी गुरूवार को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए । ४४ वर्ष की अवस्था मे उन्हे आचार्य पदवी प्राप्त हुई । आगे भी ५० वर्ष, १० महीने और १५ दिवस पर्यंत आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे थे । उनकी कुल आयु ९५ वर्ष, १० महीने ओर १५ दिन की थी ।
प्रो ए चक्रवर्ती ने भी पचास्तिकाय की प्रस्तावना मे यहीं अभिप्राय व्यक्त किया है ।
डा ए एन उपाध्ये ने भी कहा है कि "उपलब्ध सामग्रियो के विस्तृत विमर्श के बाद कुदकुदाचार्य का काल ई स का प्रारभिक काल होना चाहिए ऐसा मेरा मानना है ।" —प्रवचन की प्रस्तावना– पृष्ठ-२२

अपने इस कार्य से चतुःसघ स्वय भी सन्मानित हो गया। उस समय आचार्य पद्मनदि महाराज की आयु ४४ वर्ष की थी।

आचार्य पदवी पर आरूढ होने के बाद इनका नाम चारों दिशाओं मे फैल गया। उस समय आपका नाम पद्मनदि के स्थान पर जन्मस्थान कौण्डकुन्दपुर के अन्वर्थरूप से कौण्डकुन्द और उच्चारण सुलभता के कारण कुन्दकुन्द हुआ। षट्प्राभृत के सस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसुरि ने इन्हे पद्मनदि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इस प्रकार पाँच नामों से निर्देशित किया है।

नन्दिसघ से सबधित विजयनगर के प्राचीन शिलालेख मे (अनुमानित काल ई स १३८६) उपर्युक्त पाँचों नाम कहे गये है। नन्दिसंघ की पट्टावली मे भी ये उपर्युक्त पाँचो ही नाम निर्दिष्ट है।

पचास्तिकाय की टीका मे जयसेनाचार्य ने भी पद्मनन्दि आदि पाँचो ही नामों का उल्लेख किया है। पर अन्य शिलालेखो मे पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द या कोण्डकुन्द इस प्रकार दो नाम ही मिलते हैं। इन्द्रनन्दि आचार्य ने पद्मनदि को कुन्दकुन्दपुर का निवासी बताया है। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखो मे उन्हे कोण्डकुन्द कहा गया है।

ससार से विरक्त वीतरागी साधुओं के माता-पिता के नाम शिलालेखों मे कहीं भी नही मिलते (शास्त्रो मे नाम मिलते हैं)। कारण उनके नामो को शिलालेखो मे सुरक्षित रखने व लिपिबद्ध करने की परम्परा प्रायः नहीं है। इसी कारण से सभी आचार्यों के माता-पिता के सम्बध मे ऐतिहासिक आधार नहीं मिलते। गुरूओं के

नाम तो किसी न किसी रूप मे उपलब्ध होते है, परन्तु परम वीतरागी, जिनमुद्राधारी और लौकिक जीवन से अत्यन्त निस्पृह आचार्य कुन्दकुन्ददेव के गुरू का निश्चित नाम नहीं मिलता ।

आचार्य कुदकुद द्वारा लिखित **सीसेण भद्दबाहुस्स**[१] इस उद्धरण से उनके गुरू कौन से भद्रबाहु थे ? यह स्पष्ट नही होता । इन महामुनिराज को तो अपने आत्मकल्याण के अतिरिक्त किसी की भी आवश्यकता नहीं थी—ऐसा ही प्रतीत होता है ।

मुनीश्वर शुद्धोपयोगरूप परमसुखदायक अवस्था को छोडकर बाहर आना ही नही चाहते है । कारण कि महापुरुष पुण्यमय शुभोपयोग मे आना भी मुनिधर्म का अपवाद-मार्ग मानते है । ऐसी स्थिति मे आत्मिक जीवन व्यतीत करनेवाले महापुरुषो को अपनी जन्मभूमि, माता-पिता और गुरुपरम्परा इत्यादि का स्मरण भी कैसे हो सकता है ? केवल बाह्य घटनाओं को महत्व देनेवाले सामान्य, तुच्छ, लौकिक पुरूषो को ही जन्मभूमि माता-पितादि को नाम लिखने की आवश्यकता प्रतीत होती है ।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चरित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके वे सघ मे नायक थे । वे मुख्यरूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण मे ही मग्न रहते थे । कदाचित् किसी धर्म-लोभी जीव की याचना सुनकर रागाश के उदय से करूणाबुद्धि होने पर धर्मोपदेश देते थे । **जो स्वय दीक्षा-ग्राहक बनकर आते थे उन्हे दीक्षा देते थे। जो अपने दोषो को प्रगट करते थे, उन्हे प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध करते थे** । इस प्रकार सघ का सचालन करते थे ।

---

१ बोध पाहुड गाथा ६१

विभिन्न प्रान्तो मे विहार करते हुए पात्र जीवो को उपदेश देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द देव पोन्नूर गाँव के पास पर्वत पर पहुँचे। उसी पोन्नूर पर्वत को तपोभूमि के रूप मे चुनकर मुनिसघ को आस-पास विहार करने के लिए आदेश दिया। स्वय उसी पर्वत की एक अकृत्रिम गुफा मे तपस्या करने के लिए बैठ गये। पक्षोपवास, मासोपवास आदि व्रताचरण करते हुए इन्द्रियो द्वारा बाह्य विषयों मे प्रवर्तमान ज्ञान को अपने मे समेटकर वे विचार करते थे

"परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न होनेवाली आत्मा की पर्याये– अवस्थाएँ मेरी नहीं है, वे विभावरूप नैमित्तिक भाव है। उनका मै कर्ता भी नहीं हूँ। **मोह-राग-द्वेषादि सर्व भाव विभावरूप है। मेरा स्वभाव मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। परद्रव्य मे अहकार-ममकारभाव ये दुःखदायक भ्रान्ति है।** भ्रान्ति स्वभावरूप तथा सुखदायक कैसे हो सकती है ? मै तो सच्चिदानदस्वरूपी हूँ। मै अपने सुखदायक ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का कर्ता-भोक्ता बनकर स्वरूप मे रमण करूँ।"

इस प्रकार भेदज्ञान के बल से योगिवर्य प्रमत्त दशा मे पहुँचते थे। वहाँ शुद्धात्मा के रस का आस्वादन करके आनदित हो जाते थे। फिर प्रमत्त अवस्था मे आते थे। पुनः-पुनः शुद्धात्मा के आश्रयरूप तीव्र पुरुषार्थ कर के अप्रमत्त अवस्था मे जाते थे। इस प्रकार अतरग मे तीव्र पुरुषार्थ की धारा अखण्ड चलती थी बाह्य मे जैसा पद्मासन लगाकर बैठे रहते थे, उसमे कुछ अन्तर नहीं पडता था। वे दर्शको को पाषाण मूर्ति के समान ही अचल दिखाई देते थे।

वास्तविक रूप से देखा जाय तो **शरीरादि किसी भी परद्रव्य की क्रिया आत्मा ने आज तक कभी की ही नही, भविष्य मे भी नहीं**

करेगा और वर्तमान में भी नहीं कर रहा है। यह कार्य आत्मा की सीमा से बाह्य है। अज्ञानी अपनी इस मर्यादा को लांघने के अन्यायरूप विचार से ही दुःखी होता है।

दिन-रात, पक्ष-मास एक के बाद एक आकर भूतकाल के गर्त में समा रहे थे। पर भावसमाधि में निमग्न मुनिराज कुंदकुंद को समाधि भग हो जाने पर पुनः भावसमाधि के लिए ही पुरुषार्थ करनेवाले समाधिसम्राट को इन सबका ज्ञान कैसे होता ? अपनी देह की ही चिन्ता जिन्हें नहीं, उन महान पुरुष को इस लौकिक प्रपंच का ज्ञान कैसे होता ? जब तीव्र पुरुषार्थ मद पड़ने पर वे शुद्धोपयोग से शुभोपयोग में आते थे तो सोचते थे–

"अहो आश्चर्य ! इस जड़ शरीर का सयोग अभी भी है ?"

कुदकुदाचार्य ध्यानावस्था– आत्मगुफा से बाहर आकर और पाषाण गुफा से भी बाहर आकर जब कभी पर्वत तथा सुदूर प्रदेश पर सहज निर्विकार दृष्टिपात करते थे तब स्मृति पटल पर मुनिसघ का चित्र अंकित/प्रतिबिंबित होता था। उस समय शरीर के लिए आवश्यक और ध्यान मे निमित्तभूत आहार के लिए निकलने का विकल्प उठता था। तत्क्षण पर्वत पर से नीचे उतरकर चर्या के लिए पोन्नूर गाँव मे गमन करते थे। आहार करते ही कडी धूप मे ही फिर पर्वत पर पहुँच जाते थे।

"आहार के लिए कल फिर उतरना ही पडेगा अतः पर्वत पर न जाकर बीच मे ही कहीं ध्यान के लिए बैठे" ऐसे विचार मन मे कभी भी नहीं आते थे। "आज आहार लिया है, अब फिर आहार लिए बिना ही निराहारी केवली बनना है " ऐसे उग्र पुरुषार्थी चितन

की काति उनके मुख-मण्डल पर झलकती थी । धन्य ! धन्य ! मुनिजीवन ।

एक दिन सहज ही पश्चिम दिशा मे स्थित गुफा की ओर गमन किया । जिसका प्रवेश-द्वार छोटा है और जिसके अन्दर एक ही व्यक्ति पद्मासन लगाकर बैठ सकता है ऐसी गुफा मे जाकर ध्यान मे बैठ गये । तीव्र पुरुषार्थ करके ध्यान द्वारा लौकिक विश्व से दूर-अतिदूर अलौकिक विश्व मे पहुँच गये । आत्मानद सागर मे गहरे डूब गये । **सिद्धों के समान स्वशुद्धात्मा का सहज अतीन्द्रिय आनद का स्वाद प्राप्त किया । साध्य-साधक भाव का अभाव होने से द्वैत का अभाव करके अद्वैत बन गये, उसमे ही मग्न हो गये । ऐसे काल मे पूर्वबद्ध पापकर्मों का स्वयमेव नाश हो रहा था । अनिच्छापूर्वक ही स्वयमेव पुण्य का सचय हो रहा था ।** धर्म अर्थात् वीतरागता तो बढ ही रही थी । ज्ञानज्योति का प्रकाश भी फैलता गया । इसप्रकार सम्यक् तपानुष्ठान के सामर्थ्य से योगीश्वर कुन्दकुन्दाचार्य को अनेकानेक ऋद्धियो की प्राप्ति हो गई । परन्तु उन्हे सहज प्राप्त ऋद्धियों का भी मोह नहीं था । वीतरागी दिगम्बर मुनि महाराज का स्वरूप ही ऐसा होता है ।

चातुर्मास समाप्त होने पर मुनिसघ सहज ही आचार्यश्री के दर्शनार्थ आया । गुरूदर्शन के समय सघस्थ मुनिराजों के ज्ञान मे आ ही गया कि अपने गुरू को अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हुई है । पहले से भी सघस्थ मुनिराजो मे गुरू के प्रति भक्ति भाव बढना स्वाभाविक ही था । वे सोचने लगे–'ये आचार्य नहीं मानों भगवान बन चुके हैं'। नहीं, नहीं, प्रत्यक्ष भगवान ही हैं । इनकी योगशक्ति, प्रतिभा और

पवित्रता के सामने कौन नतमस्तक नहीं होगा ? मलयदेश के राजा शिवमृगेश ने इस महापुरूष का एक ही बार दर्शन करके अपने परम्परागत कुलधर्म का त्याग कर जैनधर्म को स्वीकार किया ही है। उस राजा के निमित्त से आचार्य महाराज ने तिरूक्कुरल[१] ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ के प्रारम्भिक पद्य से ही शिवमृगेश राजा मत्र मुग्ध सा हो गया था। जैसे—

अगरमुदलवेलुत्तेला मादि ।
भगवन् मुदरे युलगु ॥

अर्थ जैसे अक्षरों मे अकार प्रथम है वैसे ही लोक मे (आदिनाथ) ऋषभदेव भगवान प्रथम है।

वेण्डुदल वेण्डमैयिलानडि शेरन्दार ।
क्कियाण्डु मिडुमेयिल ॥

अर्थ भगवान् को कोई इष्ट भी नहीं है और अनिष्ट भी नहीं है। उनकी भक्ति करनेवाले उन जैसे राग-द्वेष रहित हो जाते है, और वे सदा-सदा के लिए दुःखरहित हो जाते है।

मनत्तुक्कण माशिलनादलनैत्तरन् ।
आगुलनीर पिर ॥

अर्थ मन मे दोष हो तो काय और वचन भी दोष युक्त हो जाते है। बाह्य मे धर्म कार्य करते हुए भी मन के दोष से वे कार्य अधर्मरूप से परिणमित हो जाते है। निर्दोष मन से युक्त कार्य धर्म कहलाता है।

---

१ तिरूक्कुरल जैनाचार्य की कृति होने पर भी कुछ विद्वान कुदकुन्द की रचनाधर्मिता के साथ सम्बन्ध जोडते है। परन्तु इसमे मतैक्य नहीं है।

इस प्रकार मुनिसघ **तिरुक्कुरल** का महत्व अपने मन ही मन मे सोच रहा था, इसी बीच मे– "राजाधिराज, मलयदेशवल्लभ, पल्लवकुल गगनचन्द्र, कुन्दकुन्दपाद पद्मोपजीवी, सत्यप्रिय श्री शिवस्कन्धवर्मा[1] महाराज पराकु -जय पराकु।"

ऐसी आवाज नीलगिरी पर्वत के बीहड वन मे गूँज उठी और पोन्नूर पर्वत-शिखर से टकराने पर पतिध्वनित हुई। यह आवाज शिवस्कधवर्मा राजा के आगमन की सूचना दे रही थी।

प्रभातकाल मे आचार्यदेव के सान्निध्य मे रहनेवाले महामुनिराज दशभक्ति का पाठ कर रहे थे–

वीसं तु जिणवरिंदा, अमरासुरवदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे,णिव्वाणगया णमो तेसिं॥

इस गाथा का चौथा चरण णिव्वाणगया णमो तेसिं। उच्चारण करते-करते मुनिसघ के मनः चक्षु के सामने सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त वीस तीर्थकरो का दिव्य-भव्यचरित्र साकार हो जाता था और तत्काल ही सर्व मुनिराज नतमस्तक होते थे। सिद्धक्षेत्र का वह विशिष्ट, शात, पवित्र प्रदेश उनके मन मे रेखाकित्त सा हो जाता था।

उसीसमय हेमग्राम से आये हुए शिवस्कन्धवर्मा अपरनाम शिवकुमार राजा ने अपने परिवार के साथ आकर आचार्य के चरण कमलों की वदना की। आचार्य श्री के सान्निध्य मे वह राजा पूर्वांचल

---

१ प्रो ए चक्रवर्ती पल्लव वश के शिवस्कन्धवर्मा राजा को टीका मे निर्दिष्ट शिवकुमार मानकर उसका समय ई स पूर्व अर्ध शताब्दी मानते हैं।

से उदित बाल-भास्कर के समान मनोहर होते हुए भी छोटा लगता था। आचार्यश्री ने पहले अपने मुनिसघ पर और बाद मे राजा पर अपनी कृपादृष्टि डाली। मानों सबको मौन आशीर्वाद ही दिया हो। तदनतर सामने दूर तक शून्यदृष्टि से देखते रहे। आचार्य महाराज के मूक सकेतानुसार एक मुनीश्वर ने राजा से पूछा–

राजन्। "आप पोन्नूर ग्राम से ही आये है न ?"

"हाँ गुरुदेव! कल रात को हेमग्राम मे ही मुकाम था-रुकना पडा। हेगडेजी (श्रेष्ठ व्यक्ति) का आग्रह रहा। नहीं, नहीं, हमारे पाप का उदय! ऐसी ही होनहार थी। कल ही पर्वत चढकर आपके दर्शन करने के भाव थे। परन्तु–सूर्यास्त होने से . . " इस प्रकार अपने को अपराधी मानते हुआ राजा ने सखेद कहा।

"आज आचार्य का विहार होगा यह बात आप जानते ही होगें"

इस वाक्य को सुनते ही शिवकुमार के हृदय को झटका-सा लगा। कुछ बोले नहीं, उस राजा के पास बोलने लायक था भी क्या? क्योकि वह जानते ही थे कि चातुर्मास समाप्त होने पर सघ का विहार क्रमप्राप्त था। तथापि रागवश राजा सोचने लगे -इस मलयदेश से धर्म ही के निकल जाने पर यहाँ क्या शेष रहेगा ? **आचार्य का ससंघ विहार होना अर्थात् धर्म का निर्गमन ही तो है। धर्मात्मा के जाने पर यहाँ क्या शेष रहेगा ? धन-वैभव, राज्य-ऐश्वर्य सब धर्म के अभाव मे निरर्थक है। व्यर्थ है। साधु अर्थात् साक्षात् धर्ममूर्ति से ही धरा सुशोभित होती है।**

अश्रुपूरित नयनों से राजा ने आचार्य श्री की ओर निहारा। आचार्य श्री ने भी धर्मवात्सल्य मुद्रा से राजा को देखा। उसी समय

मोह परिणामो को दूर करने मे समर्थ ऐसे भावगर्भित वचन आचार्य के मुख से निकले—

एगो मे सस्सदो अप्पा, णाणदसण लक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सब्बे सजोगलक्खणा ॥

राजा शिवस्कन्धवर्मा वर्षायोग मे अनेक बार वन मे आचार्यदेव के सान्निध्य मे आये थे । उनसे धर्मलाभ प्राप्त किया था । उनके प्रत्यक्ष जीवन, उपदेशित वीतराग धर्म, वस्तुतत्त्वपरक कथन आदि से वे प्रभावित थे । घर मे स्वय साधर्मियो के साथ स्वान्तःसुखाय प्रवचनसार और पचास्तिकाय का स्वाध्याय मनोयोगपूर्वक किया था। कठिन विषयों का समाधान आचार्य से प्राप्त करके निःशक हुए थे। भावपाहुड ग्रथ का परिपूर्ण भाव समझने की तीव्र अभिलाषा थी । अतः भावपाहुड ग्रथ का स्वाध्याय प्रारभ किया था ।

राजा के मानस पटल पर उपर्युक्त गाथा का अमिट प्रभाव था। इसलिये णमोकर महामत्र के समान इस गाथा के भाव पर बहुधा मनन-चिन्तन किया करते थे ।

"ज्ञान-दर्शन लक्षणस्वरूप शाश्वत एक आत्मा ही मै हूँ, मेरा है और शेष सभी भाव बाह्य है, सयोगस्वरूप पर है ।"

"अहो । सुखद आश्चर्य । मेरे मन मे उत्पन्न होने वाले ये पुण्यमय शुभभाव भी पर ही हैं । तब पर द्रव्यों का और उनकी अवस्थाओं का तो मेरे साथ सम्बन्ध कैसा ? और मेरे हित के लिए उनका मूल्य भी क्या ?"

आज आचार्य श्री के सामने भी इसी गाथा का भाव उभर कर मन मे आ रहा था । यह गाथा उनके हृदय में प्रवेश करके सतत

अपूर्व-अद्भुत प्रेरणा दे रही थी। अतरग की गहराई से कुछ नया परिवर्तन भी बाहर आना चाहता था। उसके प्रगट होते ही, राजा के वाह्यागों मे भी सहजरूप से हलन-चलन प्रारभ हो गया। गाथा के एक पद के उच्चारण के साथ शरीर से भी एक-एक वस्त्राभूषण निकलना प्रारभ हुआ।

सूर्य के समान चमकने वाले मस्तक का मनोहर राजमुकुट मस्तक से उतर गया। सर्वांग को आवृत्त करनेवाला जरतारी शोभादायक धवल दुकूल दूर हो गया। गले की शोभा बढानेवाले नवरत्न हार ने भी अपना स्थान त्याग दिया। धारण की हुई वज्र की अगूठी और भुजकीर्ति ढीले होकर गिर पडे।

आज राजा ने न जाने किस शुभ मुहूर्त मे पर्वतारोहण किया था। मानों पर्वत पर चरण रखते ही मोक्षमार्गारोहण भी प्रारभ हो गया। उपस्थित नर-नारी राजा के इस त्यागमय जीवन का वैराग्यमय दृश्य आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे। सारा मुनिसघ जानता था कि यह प्रभाव भावपाहुड शास्त्र के स्वाध्याय का है।

राजा शिवस्कन्धवर्मा का दीक्षा ग्रहण और मुनिसघ का तमिलनाड से विहार करने का समाचार विद्युत वेग से आस-पास के गावों मे फैल गया। राजा शिवस्कन्धवर्मा के प्रेमाग्रह से और कुछ दिन मुनिसघ तमिलनाड मे रह सकता है, ऐसे समझने वाले लोगो को राजा का दीक्षाग्रहण करना निराशा का कारण बन गया। मुनिसघ को रुकने के लिए आग्रह करनेवाला राजा ही परम दिगबर मुनि बनकर उनके पीछे छाया के समान चल दिया तो सघ को कौन रोक सकता था? इसी कारण राजकुमार, श्रेष्ठीवर्ग और अन्य

प्रतिष्ठित महानुभावो ने मुनिसघ को रुकने की प्रार्थना करने हेतु पहाड पर चढना प्रारभ किया। सघस्थ मुनीश्वरो की सहज दृष्टि पहाड चढनेवाले जनसमूह की ओर गयी और उनके मन मे विचार आया—जैसे राजा शिवस्कन्धवर्मा ने अकस्मात् दीक्षा लेकर सबको सुखद आश्चर्य मे डाल दिया, वैसे ही आश्चर्यकारक नया क्या होनेवाला है ?"

कुछ क्षण के बाद वह जन-समुदाय मुनिसघ के निकट आ गया।

आचार्यवर्य कभी विश्व-स्वरूप पर चिन्तन करते थे, कभी भावनालोक मे विचरते थे तो कभी शून्य व अनिमेष दृष्टि से दूर पर्यंत देर तक देखते रहते थे। उनका मन सुपरिचित क्षेत्र से अत्यत दूर साक्षात् केवली दर्शन के लिए उत्कठित होता रहता था।

"पर छठवे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसयत साधु औदारिक शरीर के साथ पचमकाल मे विदेहक्षेत्र मे कैसे जा सकेगा ?" ऐसे विचार के तत्काल बाद ही दूसरा विचार यह भी आता था कि काल द्रव्य तो परमाणु मात्र है, जड है। अज्ञानी और पुरुषार्थहीन लोग ही कालादि परद्रव्य के ऊपर अपनी पुरुषार्थहीनता का आरोप लगाते हैं। ऐसा विचार योग्य नहीं। असयम के परिहारपूर्वक चारण सिद्धि के माध्यम से वहा जाना सभव है।

इसी बीच जनसमुदाय ने आकर मुनिसघ की भक्तिभाव से वदना करके प्रार्थना की मुद्रा मे आशागर्भित दृष्टि से आचार्यदेव के मुखकमल को निहारा। तब विशिष्ट चिन्तन मे निमग्न आचार्य महाराज ने ध्यान टूटने पर प्रश्नभरी दृष्टि से श्रावक समूह और मुनिसघ की ओर दृष्टि डाली। आचार्यश्री के भाव को समझकर

चिन्तामग्न राजकुमार ने अपने स्थान पर खडे होकर नम्रता से करबद्ध होकर निवेदन किया।

भगवन्! दिगम्बर महासन्तों को कुछ दिन यहीं रहने के लिए रोकने का अनधिकारी यह श्रावकसमूह आपके प्रति भक्ति तथा श्रद्धा के कारण योग्यायोग्य का विचार न करते हुए वीतरागता को राग से प्राप्त करने का अज्ञान कर रहा है। आपके तथा धर्म के ऊपर हमारी वास्तविक श्रद्धा है। हमारे लिए भी यही श्रेयस्कर है कि हम पिताश्री (राजा शिवस्कन्धवर्मा) के मार्ग का अनुसरण करे। **साधु (आचार्य कुंदकुंद) पर समर्पित उनका मन साधुत्व पर भी समर्पित हुआ इसलिए वे स्वयं साधु बन गये।** परन्तु उन जैसा तीव्र-उग्र पुरुषार्थ करने का सामर्थ्य हम अपने मे नहीं पा रहे है। अतः आपके चरणकमलो की धूल से यह पर्वत-प्रदेश और कुछ काल तक पवित्र होता रहे और हमारी पात्रता को प्रेरित करता रहे—यह नम्र निवेदन है। आपकी कृपा होगी—ऐसी आशा है।

श्रमणसघ और श्रावक समूह इस नम्र निवदेन को सुन रहा था, परन्तु आचार्यश्री की दृष्टि पूर्वदिशा की ओर केन्द्रित थी। राजकुमार का निवेदन समाप्त होते ही सभी की दृष्टि आचार्य की ओर आकर्षित हुई। दूसरे ही क्षण आचार्य जिस स्थान पर दृष्टि लगाये बैठे थे, सभी लोगो ने उसी ओर देखा तो आकाश मे दूर कुछ प्रकाश-सा दिखायी दिया। कौतूहल/जिज्ञासा से उसी ओर अपलक दृष्टि से देखते रहने पर तेजोमय मेघ के समान कुछ अद्भूत-सा दृश्य दिखायी दिया। क्या यह सूर्य है ? नहीं, नहीं। सूर्य तो अस्ताचल की ओर

ढल रहा है। तो क्या यह नक्षत्र मण्डल है ? नहीं। अहो आश्चर्य। एक से दो हो गये। ऐसा लग रहा है कि दो प्रकाशपुज इधर ही आ रहे है। जमीन पर उतर रहे हैं। नहीं, नहीं। जमीन से स्पर्श न करते हुए अधर हैं। अहो। मानवाकृतियाँ। नहीं, नहीं। महामुनि। नहीं, ये तो चारणश्रृद्धिधारी मुनि युगल हैं। धन्य। धन्य। वे मुनि आचार्यश्री की गुफा की ओर जा रहे है। श्रमणकुलतिलक आचार्य कुन्दकुन्द के दर्शनार्थ आये होंगे।

अहो। चारणश्रृद्धिधारी मुनिराज भी इस मानव-महर्षि की वदना कर रहे हैं। अहो। इनके तप की महिमा कितनी अपार है।

"भगवन। विश्ववन्द्य। वन्दे, वन्दे, वन्दे।"

कुछ काल मौन ‐ारण कर आचार्य कुन्दकुन्द देव ने निज मति को अन्तर्लीन किया। "विश्ववन्द्य, भगवन् आदि मेरे लिए प्रयुक्त विशेषण–उपाधियाँ मेरे योग्य नहीं हैं। ये उपाधियाँ सम्बोधनकर्त्ता की महानता को बताती है।" इस प्रकार विचार करके आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने चारण-मुनियों की प्रतिवन्दना की।

चारण-मुनियो ने तत्काल उनको रोककर कहा–

"भगवन् यह क्या ?"

"कुछ नहीं, यही योग्य है।"

"इसकी आवश्यकता नहीं है, क्योकि विदेहक्षेत्रस्थ की श्री सीमन्धर तीर्थंकर देव के समोसरण मे गणधरदेव की उपस्थिति मे आपके अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की विशिष्ट चर्चा सुनकर ही हम आपके दर्शनार्थ आये है।"

"पूज्यपाद गणधरदेव की क्या आज्ञा है ?"

"परम स्यतन्त्र वीतराग जैनधर्म मे दीक्षित वीतरागी, दिगम्बर महामुनीश्वरो के बीच बोध्य-बोधक भाव को छोड़कर अन्य किसी सम्बन्ध को अवकाश ही कहाँ है ? आप जैसों के लिए उनकी आज्ञा की क्या आवश्यकता है ?"

चारण मुनिद्वय कुछ समय पर्यंत मौन रहे, फिर नयन निमीलित करके अल्पसमय तक विचार किया। फिर मुनिपुगव की भावना को जानकर गभीरतापूर्वक निर्णयात्मक रीति से कर्णमधुर वाणी मे बोले–

"क्या आपको विहरमान तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान के साक्षात दर्शन करने की अभिलाषा है ?"

"महाविदेह क्षेत्र मे जाने की अभिलाषा तो तीव्र है ही किन्तु

"किन्तु-परन्तु क्यो ? आपको चारणऋद्धि प्राप्त हुई है। ऋद्धि के अभाव मे भी आप जैसे भगवत्स्वरूप के लिए कौन-सा कार्य असभव है ?"

आचार्य कुन्दकुन्द देव को प्राप्त चारणऋद्धि का सतोषकारक समाचार इसके पहले किसी को भी विदित नहीं था। चारण मुनियों के मुखकमल से विनिर्गत इस विषय को सुनकर श्रावक समूह और श्रमण-सघ को अत्यानद हुआ। सभी सोचने लगे–

"इस चातुर्मास मे आत्मा की उग्र साधना के फलस्वरूप यह ऋद्धि प्राप्त हुई होगी। असाधारण आत्माराधना का फल ऐसा अद्भुत ही होता है। इसमे अज्ञानियो को ही आश्चर्य होता है, ज्ञानियो को नही। परमोपकारी आचार्य परमेष्ठी ने अपने तप के प्रभाव से पचम

काल को चतुर्थ काल सा बना दिया। इस प्रकार के साधु-सतो से सहित यह भारत-भूमि परम पुनीत है, धन्य है।"

देखते-देखते ही रत्न की प्रभा के समान उन तीनो ही महामुनीश्वरों के शरीर से चारों ओर प्रभा-वलय फैल गया। मानो उषाकालीन लोकव्यापी बालभास्कर के सुखद, सुन्दर और स्वर्ण-अरुण किरणों से वह पर्वत कचनमय बन गया हो। इसी ऐतिहासिक आश्चर्यकारी घटना से इस पर्वत को पौनूरमलै-पौन्नूरबेट्ट यह नाम मिला होगा।[१]

वह आभा-मण्डल उसी रूप मे आकाश की ओर बढा और बढते-बढते आगे आगे ही चलता रहा। वह प्रभा मण्डल अति दूर गया। प्रथम तो तीन ही ऋषीश्वर तीन कातिमय रेखा समान प्रतीत हो रहे थे, बाद मे दो, तदनन्तर एक ही प्रकाश-पुजरूप दृष्टिगोचर हो रहे थे। अब तो वह प्रकाश मात्र नक्षत्राकार ही लगने लगा।

अन्त मे चक्षुरिन्द्रिय के सामर्थ्य के अभाव से अनत आकाश मे आकार रहित निराकार बनकर अदृश्य हो गया। इस तरह भूमिगोचरी मानवो को महापुण्योदय से एक अ तर्मुहुर्त पर्यंत स्वर्गीय सौन्दर्य के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस आश्चर्यकारी, अद्भुत और अपूर्व दृश्य को मूक विस्मय से देखनेवाले श्रावकसमूह तथा साधुसघ ने स्वयमेव सोत्साह आचार्य कुन्दकुन्द के नाम का तीन बार उच्च स्वरो मे जय-जयकार किया।

---

१ पोन्न शब्द का अर्थ सोना (कन्नड तथा तमिल भाषा में) मलै-पर्वत (तमिल भाषा में) बेट्ट-पर्वत (कन्नड भाषा मे)

इस जयघोष की ध्वनि गिरि कन्दरो मे न समाती हुई अनत आकाश मे गुजायमान हो उठी ।

जयघोष ध्वनि की अनुगूज के साथ ही अत्यन्त कर्णप्रिय, ललित, गभीर व स्पष्ट ध्वनितरग सायकालीन शीतल हवा मे फैल गयी । यह ध्वनि पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर दसो दिशाओं मे समान रीति से व्याप्त हो गयी । दक्षिणोत्तर ध्रुवप्रदेश भी इस ध्वनि से अपरिचित नहीं रहे । इस मद, मधुर तथा स्पष्ट ध्वनिप्रवाह को सुननेवालो के हृदयकपाट सहज खुल गए । अपरिचित मजुल-मनमोहक ध्वनि सुनकर सभी स्वयमेव मत्रमुग्ध से हो गए । इस अनुगूज ने सहज ही निम्नाकित श्लोकरूप मे प्रसिद्धि प्राप्त की ।

मगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।
मंगल कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥[१]

इस प्रकार यह ज्ञानगर्भित भक्तिपरक श्लोक दिगन्त मे फैल गया । पोन्नूर पर्वत पर विराजमान मुनिसघ के मुखकमलो से भी यह श्लोक पुनः पुनः मुखरित होने लगा । । जो कि आज भी भव्यों का कठहार बना हुआ है और भविष्य मे बना रहेगा ।

श्लोककर्त्ता के सम्बन्ध मे न हीं किसी को ज्ञान था, न ही जानने की उत्कठा और न ही कर्त्ता को जानने का लोभ भी । होवे भी क्यों?

सघ मे सभी दिगम्बर महा मुनीश्वर आत्मरस के ही रसिक होते है । उन्हे इस प्रकार की अप्रयोजनभूत जिज्ञासा नहीं होती ।

---

१ मगल भगवदो वीरो, मगल गौतमो गणी ।
मगल कोण्डकुदाई, जेण्हधम्मोत्थु मगल ॥
यह मूल प्राकृत पद उपर्युक्त रीति से सस्कृत श्लोकरूप में परिवर्तित हुआ है ।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पचमकाल मे तीर्थंकर भगवान का साक्षात् दर्शन किया। पूर्व ज्ञात यथार्थ आगम ज्ञान दिव्यध्वनि सुनकर स्पष्ट तथा विशदता को प्राप्त हुआ एव आत्मानुभूति प्रगाढता को प्राप्त हुई। एव जीवोद्धारक अनादिनिधन परम सत्य तत्त्व लोगों को समझाया लिपिबद्ध भी किया। यह शास्त्र लेखन का कार्य वस्तुतत्त्व का निर्णय करके आत्महित के मार्ग मे सलग्न होने के अभिलाषी भव्य जीवों के लिए एकमेव महान उपकारी उपाय है। इसलिए भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्ददेव को प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है यह उचित ही है।

इन आचार्य को "कलिकाल सर्वज्ञ" जैसे महान आदर सूचक शब्दों से शास्त्रो मे स्मरण किया गया है। यह तथ्य इस विश्वास को और भी दृढता प्रदान करता है कि भरतक्षेत्र मे आचार्य के विचरण का जो काल विक्रम की पहली शताब्दी निर्धारित किया गया है, इससे भी उनका काल प्राचीन होना चाहिए। स्वय आचार्य ने अपने बोधपाहुड ग्रथ में अपने को सीसेण या भद्दबाहुस्स (भद्रबाहु का शिष्य) सम्बोधित किया है। इससे आचार्य का अस्तित्व काल ई स पूर्व होना चाहिए ऐसा स्पष्ट सिद्ध होता है।[१]

---

१ मुझे लगता है कि आचार्य कुन्दकुन्द का काल विक्रम की प्रथम शताब्दी से बहुत पूर्व का था, क्योंकि आचार्य द्वारा रचित किसी भी ग्रथ मे उन्होंने अपना परिचय नहीं दिया है।पर बोधपाहुड की ६१-६२वीं गाथाओं को पढने के बाद बोधपाहुड श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य की कृति है ऐसा ज्ञात होता है। और बोधपाहुड यह ग्रथ आचार्य कुन्दकुन्ददेव की कृति है यह विषय निर्विवाद है। इससे स्पष्ट होता है कि वे श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य थे। इस स्थिति में आचार्य कुन्दकुन्द का समय विक्रम शताब्दी से बहुत पहले का है। श्री रामप्रसाद जैन (अष्टपाहुड़ भूमिका, पृष्ठ ७-८

बोधपाहुड़ ग्रथ की ६२वी गाथा मे "बारह अग का ज्ञाता और चौदह पूर्व का विस्तार से प्रचार करने वाले श्रुतकेवली भगवान भद्रबाहु (मेरे) गमकगुरु जयवन्त रहे।" इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द देव ने घोषणा की है।[१]

अतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को छोडकर यदि दूसरे ही मुनि, आचार्य कुन्दकुन्द देव के गुरु होते तो वे अपने गुरु के रूप मे उनका नामोल्लेख अवश्य करते। क्योकि अपने वास्तविक गुरु को छोडकर श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपने गुरु के रूप मे घोषित करना और स्वय उनका शिष्य नहीं होने पर भी अपने आपको शिष्य के रूप मे घोषित करना, पचमहाव्रत के पालन करनेवाले आचार्य द्वारा कैसे सभव होगा ? क्यो करेगे ?

आचार्य ने स्वय समयसार ग्रथ के मगलाचरण मे कहा है कि "**वोच्छामि समयपाहुड़मिणमो सुदकेवली भणिदं**"अर्थात् मै (कुन्दकुन्द) श्रुतकेवली (भद्रबाहु स्वामी) द्वारा कहा हुआ समयपाहुड कहता हूँ।

आचार्यदेव ने **सूत्रपाहुड़** ग्रथ के गाथा क्रमाक २३ मे कहा है– "वस्त्र धारण करने वाले मुनि चाहे भले तीर्थंकर ही क्यों न हो तो भी वे मोक्ष प्राप्त नही कर सकेगे, क्योकि नग्न-दिगम्बर भेष ही मोक्षमार्ग है।"[२]

---

१ बारस अगवियाण चउदस पुव्वग विउलवित्थरण।
सुयणाणि भद्दबाहु, गमयगुरु भयवओ जयउ॥

२ णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥

उसी प्रकार इस ही सूत्रपाहुड ग्रथ के गाथा क्रमाक १८ मे कहा है–"नग्न-दिगम्बर अवस्था अर्थात् यथाजात रूप अवस्था धारण करने वाले मुनि यदि तिलतुषमात्र भी परिग्रह ग्रहण करेगे तो वे निगोद मे जायेगे।"[1]

इस प्रकार की गाथाओं की रचना का कारण धार्मिक क्षेत्र मे उत्पन्न मतभेद और साधु समाज मे बढता हुआ शिथिलाचार ही होना चाहिए–ऐसा लगता है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि अतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने "उत्तर भारत मे बारह वर्ष का अकाल रहेगा" ऐसा निमित्तज्ञान से जाना था। अनादिकाल से अखण्ड चली आ रही पवित्र दिगम्बर साधु परम्परा के सरक्षण के लिए सनातन सत्य, वीतराग जैनधर्म की सुरक्षा के लिए अपने सघ के दिगम्बर साधु शिष्यो के साथ उन्होंने दक्षिण भारत मे पदार्पण किया। किन्तु कुछ दिगम्बर मुनि आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण मे नही आये, उत्तर भारत मे ही रहे। उत्तर भारत मे भयानक अकाल के कारण दिगम्बर साधु अवस्था का निर्वाह होना कठिन हो गया। अतः साधु अचेल अवस्था का त्याग कर सचेलक बन गए–श्वेत वस्त्रों को अगीकार करने लगे। अकाल समाप्ति के बाद स्वीकृत वस्त्र व अन्य शिथिलाचार का त्याग नहीं किया। उल्टा शिथिलाचार को ही धर्म का स्वरूप प्राप्त हो–ऐसा प्रचार प्रारभ किया। इसके लिए प्राचीन द्वादशाग के नाम पर कल्पित शास्त्रो की रचना की गई। मोक्षप्राप्ति

---

१ जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्त ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुय तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम्॥